

प्रकाशक  
राजजीभाई लगनभाई देसाई  
श्रीमद् राजनन्द आश्रम  
स्टे० अमरा, पो० नोरिया  
वागा आणंद ( गुजरात )

हिन्दी-संस्करण  
प्रथमावृत्ति १०००

वीर संवत्  
२४९७

विन्नाम संवत्  
२०२७

ईस्वी स  
१९७१

मुद्रक  
आनन्द प्रेस  
गौरीगंज, वाराणसी-१

















पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६	२०	विचारोने	विचारोने
२२८	१५	का	को
२३४	१०	मतिश्रुत	मति, श्रुत
२३६	२६	निन्यानवे	निन्यानवे
२४६	१	सुरपुहपवृष्टि	सुरपुहपवृष्टि
२४६	२१	दिसी	दिसि
२४६	२२	दीसए	दीसय
२५०	२०	धमद्रव्य	धर्मद्रव्य
२५०	२३	तारसि	तारिसो
२५१	२४	प्रदेशवत्त्वगुणके	प्रदेशवत्त्वगुणके
२५१	२९	अर्तपययि	अर्थपर्याय
२५१	२९	प्रदेशवत्त्व	प्रदेशवत्त्व
२५१	२९	व्यंजकपर्याय	व्यंजनपर्याय
२५२	२३	दूशरे	दूसरे
२६४	२०	लुभाळ	लुभाळ
२६४	२४	रागअग्निसे	रागअग्निसे
२६५	६	सहजात्मस्वरूप	सहजात्मस्वरूप
२६७	५	इन्द्रि	इन्द्रि
२६७	१९	आपसेमें	आपसे में
२७४	२२	( जनम-मरण )	( जन्म-मरण )
२७५	१	सुरसंघहि	सुरसंघहि
२७६	२२	जीवधन	जीवधन
२८१	२	ीवांको	जीवोंको

• • • • •

4

2003

1

1





## २ : नित्यनियमादि पाठ

निद्रामें पड़ी नींदी नींदनाही जागना करने वाले हैं। पाप या प्रमादकी ओर झुकती हुई वृत्ति को संभालमें मिला सकते नहीं हैं। सम्यक् प्रतीति रूप दर्शनका लाभ होने का ये नींदनाही निर्दोष बनाते हैं और अपूर्ण स्वभावको प्रकट करनेके लिए प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। इस कारण वे समस्त सद्गुणोंके भंडार हैं। विशेष उपकार अगले पद्यमें प्रदर्शित किये गये हैं—

स्व-स्वरूपकी प्रतीति अप्रमत्त संयम धारण,  
पूरणपणे वीतराग निर्विकल्पताके कारण;  
अंते अयोगी स्वभाव जो ताके प्रकट करतार है,

अनन्त अव्यावाध स्वरूप में स्थित करावनहार है ॥ २ ॥

श्री सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागमका निश्चय होते ही स्वस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होती है, अप्रमत्त ( प्रमादहीन ) संयमका भान प्रकट होता है और वह पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावको प्रकट करनेका कारण बनता है। और, अन्तमें चौदहवें गुणस्थानमें अयोगी स्वभाव प्रकट होता है तथा अनन्त अव्यावाध स्वरूपमें स्थितरूप मोक्ष होता है। इसका भी कारण वह वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम है।

सहजात्म, सहजानन्द, आनन्दधन नाम अपार है,

सत्देव, धर्म स्वरूप-दर्शक सुगुरु पारावार है;

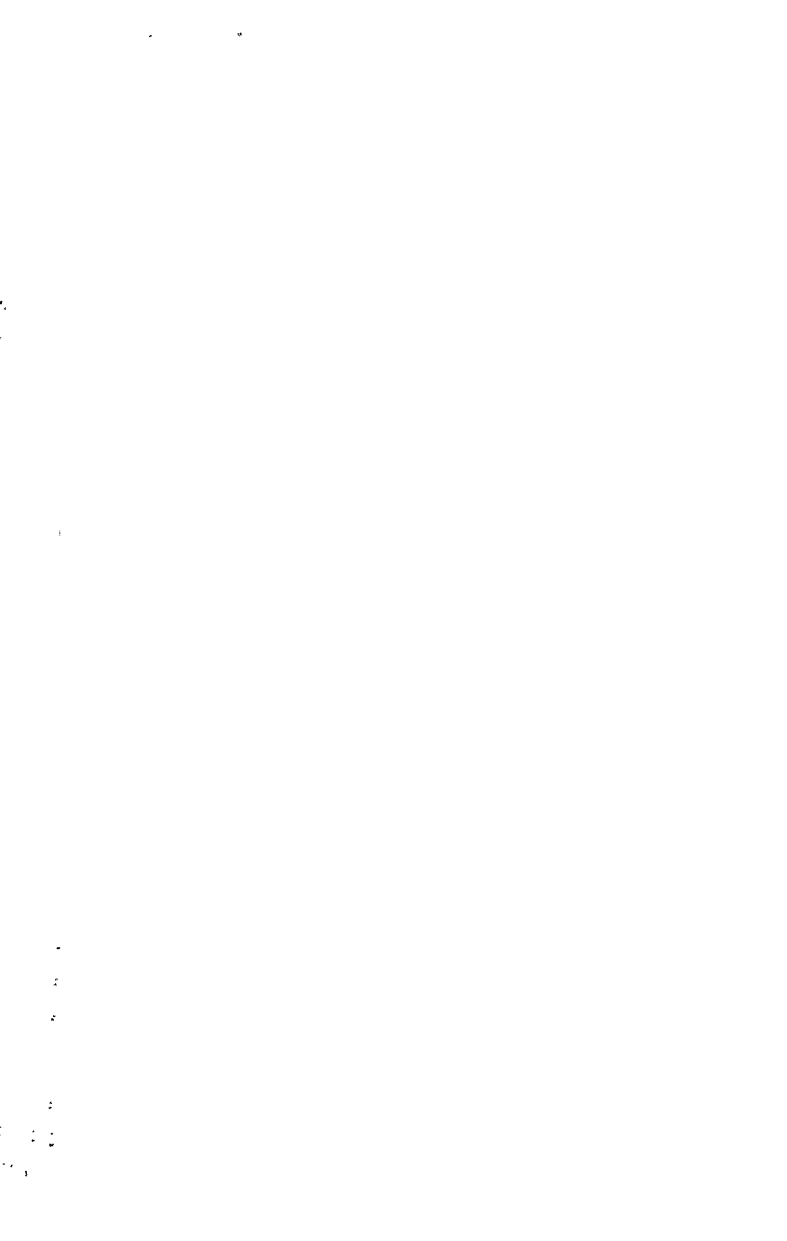
गुरुभक्तिसे लहो तीर्थपतिपद शास्त्रमें विस्तार है,

त्रिकाल जयवन्त वर्तौ श्रीगुरुराज ने नमस्कार हैं ॥ ३ ॥

श्रीसत्पुरुषसे जीवको अचिन्त्य लाभ प्राप्त होता है। अतएव उनके अनेक गुणसम्पन्न नाम यहाँ गिनाये गये हैं। सहजात्म अर्थात् सहज स्वरूपके रहनेका धाम, सहजानन्द अर्थात् सहज अनन्त सुख जिसमें रहा हुआ है ऐसा आत्मा, आनन्दधन अर्थात् परमानन्द प्रकट हो या बरसे ऐसे बोधको वर्षा करने वाले। सद्गुरुके ऐसे अपार नाम हैं, क्योंकि सद्देव, सद्धर्म और सत्स्वरूप-









शुद्ध भाव प्रवर्तनी नहीं, नहीं सब नून पण ।

नथीं लक्ष्मी के सीता, भूँ कर्तुं परमपद ॥ २ ॥

उस कारण मूर्ख अपने मूर्ख स्वभाव का अनुभव क्षण भर भी  
 किसी समय नहीं होता । भूँ अनुभव हो में प्रेमा रहता है । किन्तु  
 गुरुभाव कि जो जोर का सम्यक् रा पाता करके मादकी जोर  
 मोटे, वह अभी आया नहीं । वह वह नरे शुद्ध स्वभाव मुनि  
 जोड़ कर तल्लीन होकर, भक्तिमय होकर, सतीर्णमय होकर स्वभाव  
 चाहिए, सर्वत्र तुम ही देखें, ऐसी प्रेम-लक्षण नहीं आती । सर्वत्र  
 आत्मा देखो, ऐसा प्रभुश्रीजीने कहा है, वह भी नहीं बन पाया ।  
 प्रभो ! आप निकट में ही बैठे हो, ऐसा जान कर समझ नवान का  
 होगा ? सर्व भाव प्रभुमय होते नहीं । उमके लिए लक्ष्मी, सीता,  
 विनयभाव जागृत होना चाहिए । सत्पुरुषके सहस्रों कुछ समझ  
 आवे तो साथमें अत्यन्त-नम्रता विनय आना चाहिए, हे परम  
 स्वरूप ! आपको क्या कहूँ ?

आपकी ही

नहीं आज्ञा गुरुदेवकी, अचल करी उर मांहि ।

आप तणी विश्वास दृढ़, ने परमादर नाहि ॥ ३ ॥

गुरुदेवकी आज्ञा राग-द्वेषसे रहित समभावमें रहनेकी है ।  
 उसमें अचलतासे, क्षण भर भी, प्रमाद किये बिना वर्त्तनी नहीं





Number of hauls	<i>P. setiferus</i> (%)	<i>P. setiferus</i> + <i>P. setiferus</i> + <i>P. setiferus</i> (%)	<i>P. setiferus</i> + <i>P. setiferus</i> + <i>P. setiferus</i> (%)
1	~10	~10	~10
2	~25	~25	~25
3	~45	~45	~45
4	~60	~60	~60
5	~70	~70	~70
6	~75	~75	~75
7	~78	~78	~78
8	~80	~80	~80
9	~82	~82	~82
10	~85	~85	~85

1. 1

10

1





लगता है ? देह जो है सो मैं नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, ऐसी समझ उत्पन्न हो तो पर-पदार्थ में जो प्रीति है वह पलट कर आत्मस्वरूप के प्रति अथवा सत्पुरुष जिसकी ओर इंगित करते हैं उसकी ओर प्रकट हो। जिसने आत्माका लक्ष्य कराया और जो आत्माको समस्त दुःखोंसे मुक्त करनेमें निमित्त है, ऐसे ज्ञानी गुरुके प्रति अनन्य भक्ति जागृत हो। शास्त्रमें भक्तिके नी भेद बतलाये हैं—

श्रवण कीर्त्तन चिन्तवन, सेवन वन्दन ध्यान।

लघुता समता एकता, नवधा भक्ति प्रमान ॥

—श्री बनारसीदास

इनमें एकता—सद्गुरुका शुद्ध स्वरूप और अपना शुद्ध स्वरूप एक ही है, ऐसा अनुभव हो वहाँ पराभक्ति है। इससे आत्माका दर्शन ज्ञान सुख प्रकट होता है। कहा है कि—‘भगवान् मुक्ति देनेमें कृपण नहीं किन्तु भक्ति देने में कृपण है।’ यहाँ भक्ति का अर्थ है आत्मस्वरूप धर्मका मार्ग, उसे पाना कठिन है। परमार्थ के प्रति या सत्पुरुषके प्रति यथार्थ प्रेम प्रकट हो तो ही उसे पाया जा सकता है। भक्तात्मा सत्पुरुषके संगसे भक्तिका रंग-आत्मा पानेकी तालावेली लगती है। ऐसी भक्ति मुझमें नहीं है। फिर भजन कीर्त्तन स्तवनमें दृढ़ लक्ष्य-एकाग्रता—  
चाहिए, वह भी आती नहीं है। मनुष्य भव पा लेना चाहिए, इसकी स्पष्ट कल्पना तक नहीं कर सकता। कर्त्तव्य क्या है, इस बातकी समझ नहीं है। दूसरी-दूसरी वस्तुओंमें फँसा रहता हूँ। जहाँ आत्माकी चर्चा होती हो वहाँ ऐसे विचार जा का परिज्ञान होता है, परन्तु ऐसे उत्तम स्थिति नहीं। सत्संगका लाभ लिया नहीं जाता।





धर्मसे विपरीत हैं। निवृत्तिके स्थल पर सत्पुरुषका योग हो वहाँ जाल कुछ बाधक नहीं होता। प्रभुश्रीजी थे तब उनके समीप चीथा आग जैसा लगता था। बोध और भक्तिसे आत्माको शान्ति-लाभ होता था। संसारकी विस्मृति हो जाती थी। ऐसे विपरीत कालमें भी जीव यदि सत्पुरुषकी आज्ञाके अनुसार भक्ति करने का नियम करे, व्रत एवं त्याग द्वारा मर्यादा करे और दृढ़ताके साथ उससे चिपटा रहे तो धर्मध्यान बन सकता है। इस प्रकार मर्यादा अर्थात् आज्ञा-आराधन रूप धर्म जीवको बचा सकता है। सत्पुरुषकी आज्ञामें लक्ष्य रखते तो पाप करनेसे रुके। सत्पुरुष की आज्ञास्पी अंकुश है, मगर उस अंकुशमें रहा नहीं जाता। निमित्त धर्माराधन करनेको कहा है, वह होता नहीं। उसके लिए व्याकुलता होनी चाहिए, सो भी होती नहीं। मेरे कर्म कितने भारी हैं! कृष्णदेवने कहा है कि भारी कर्मी जीव इस कालमें अवलोक्य होते हैं। इस कारण धर्मकी जिज्ञासा घटती जाती है, लोगों में प्रयत्न करनेके लिए सब कुछ किया जाता है। परमार्थ-आत्महित किसे मानना है, यह गूँझता नहीं। निरंकुशता बढ़ती जाती है। जो साधना का कदना न माने वह भगवान्‌के कहेका क्या विचार करेगा? वह तो भगवान्‌ थे, यह भी नहीं मानता, शास्त्रोंको नहीं मानता है और अपनी कल्पनामें स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। इससे कर्मके मासने परमार्थको अवकाश ही नहीं।



वचन से वैर या प्रीति होती है, इससे संसार की वृद्धि होती है। नयन भी बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न करवा कर अति कर्म-बन्ध के निमित्त बनते हैं। अतएव इन दोनों को संयत करना चाहिए। सत्पुरुष के वियोग में उनका शरण ग्रहण करके वचन और नयन को स्मरण, कीर्तन, दर्शन आदि में रोकना चाहिए। दूसरी तरफ से उनका निरोध करके चुपचाप आत्मार्थ साध लेना चाहिए। लोकप्रसंग घटा कर आत्मार्थ में लगे रहना चाहिए।

हे प्रभो ! जो तेरे भक्त नहीं हैं वे आसक्तिपूर्वक संसार की खट-पट में लगे हुए हैं। उनके संसर्ग में आकर मैं भी तन्मय हो जाता हूँ। ऐसा न होकर उनके प्रति उदासभाव-उपेक्षाभाव रहना चाहिए। उसी प्रकार गृह-परिवार संबंधी कार्य भी अतिशय प्रमोद के साथ करना हूँ। किंतु उनमें ममत्व धारण करने से आत्मा बन्धन में पड़ कर दुःख का भाजन बनेगा, ऐसा समझ कर उनमें भी उदास रहना चायेंगे। जागो गृहत्याग को भाला समान और कौटुम्बिक कार्य को घात अर्थात् मृत्यु समान समझता है ! मैं ऐसा समझ नहीं पाता। निहन्नी आत्मा में समय व्यतीत हो रहा है। दर्पणमें देखकर घंटा बिना दिखा जाता है।

धर्म के कार्य में अत्यंत पर्याप्त समय देकर देह में भक्ति, धर्म-साधन आदि कार्य करना चाहिए। आत्मार्थमें अधिक समय व्यतीत न चाहिए।

अज्ञानाय वा रीतिर्य नहि, स्वधर्मो संवय नहि ।

न चो नित्यं निर्मलपणे, अन्य धर्मो कांक्ष ॥ १२ ॥

जो ज्ञान नहीं है उसे रीति नहीं, स्वधर्म ही संवय नहीं। न चो नित्यं निर्मलपणे, अन्य धर्मो कांक्ष ॥ १२ ॥



की, सत्संगकी बात करें तो लाभ हो। चोरे आशामें गलपुष्प बहुत विचरते थे अतः उनसे बोध पाना मुलभ था। इस कालमें महापुण्य हो तो क्वचित् ऐसा योग मिले। अवाप्त जो आशा या बोध वर्गरह प्राप्त हुआ हो उसे अत्यन्त दुर्लभ समझ कर आराधन करना चाहिए। निरन्तर ध्यान रत्नकर उसे पोषना चाहिए। उदाहरणार्थ—

एक सेठ बूढ़ा हो गया। उसने एक दिन स्नजनों आदि को एकत्र किया और अपने चार लड़कों की बहुओं को बुलाकर प्रत्येक को पाँच-पाँच डांगरके दाने दिये और कहा कि इन्हें सुरक्षित रखना और जब मैं माँगूँ तब वापिस लीटाना।

सबसे बड़ी बहू ने विचार किया—बूढ़ेका मगज फिर गया है, इसीसे सबके सामने कोई आभूषण या कोमती वस्तु देनेके बदले ये दाने दिये हैं। जब माँगेंगा तो कहींसे भी पाँच दाने उठा कर दे दूँगी। दूसरी, दाने खानेके लिए होते हैं, ऐसा सोच कर उनके छिलके उतार कर खा गई। तीसरी ने विचारा कि श्वसुरजी ने दाने वृथा तो नहीं दिये होंगे, कभी काम आएँगे। ऐसा विचार कर उसने एक डिवियामें संभाल कर रख लिये। चौथी सबसे छोटी बहू बहुत चतुर थी। उसने पाँचों दाने अपने पीयर (मायके) भेजकर बुवा दिये। जो दाने उपजे उनसे फिर खेती करवाई। पाँच वर्ष तक ऐसा करने पर कई गाड़ी दाने हो गए।

पाँच वर्ष बाद सेठ ने फिर सबके सामने बहुओं को बुला कर दाने माँगे। दोनों अपनी-अपनी बात कह दी। तीसरीने संभाल कर रखे हुए दाने लाकर दे दिये। चौथी बहूने कहा—उन दानों को लानेके लिए बहुत-सी गाड़ियाँ चाहिए। फिर उसने अपने से गाड़ियों पर गाड़ियाँ भर कर दाने मँगवाए। सन्तुष्ट होकर

10  
11  
12  
13  
14

## २० : नित्यनियमादि पाठ

सत्पुरुष का कथन मान्य हो। प्रभुश्रीजी कहा करते—शुद्ध होकर आओ। काम-धंधा, मान-प्रतिष्ठा, गृह-परिवारमें प्रतिबन्ध हो गया है। आत्मा सिवाय सर्व प्रकारकी वासना त्यागनी चाहिए, सबसे निवृत्त हो—वैराग्य प्राप्त करे तो आत्मा शुद्ध हो और सम-कित प्रकट हो।

एम अनंत प्रकारथी, साधन रहित हुंय ।

नहीं एक सद्गुण पण, मुख वतावुं शुंय ॥ १३ ॥

संसारसे तिरनेके अनेक साधन हैं। उनमेंसे मुख्य ऊपर की गाथाओंमें वर्णित किये गये हैं। ये साधन प्रतिदिन विचार कर आराधन करने योग्य हैं। जीवको संसारमें बाँधनेके कारण अनेक हैं और छूटनेके उपाय भी अनेक हैं। जो जीव मोक्ष गए हैं वे इन साधनोंको आराधन कर मुक्त हुए हैं। परन्तु मुझसे तो अभी तक एक भी साधन यथार्थ रूपमें हुआ नहीं है। और आत्माके अनन्त गुण हैं, वे कर्मसे आवृत—आच्छादित हो गए हैं। जब तक मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व-आत्मज्ञान न हो जाय तब तक सर्व = आत्माका वास्तविक गुण एक भी प्रकट हुआ नहीं कहा जा सकता। दया शान्ति क्षमा आदिको तो अभी तक पहचाना भी नहीं। मिथ्यात्व अवस्थाके गुण भी परिभ्रमणके कारण होने से पापरूप ही हैं, अवगुण हैं, इस प्रकार मुझमें पात्रता नहीं, इस कारण भगवन् ! आपके सन्मुख आते भी लज्जा आती है। मुझमें एक भी गुण नहीं और आप सर्वगुणसम्पन्न हो तो आपके सन्मुख आनेकी धृष्टता कैसे कहें ?

केवल करुणामूर्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ ।

पापी परम अनाथ छुं, ग्रहा प्रभुजी हाथ ॥ १४ ॥

फिर भी मैं तुम्हारे समक्ष गड़ा रहनेकी हिम्मत करता हूँ।





होता है तब उन्हें दूर करनेका प्रयत्न किया जा सकता है, जैसे काँटा चुभने पर उसे निकाल दिया जाता है। राग-द्वेष आदि अनन्त दोष हैं परन्तु उनकी खबर ही नहीं है। अज्ञान के कारण निश्चित सो रहा है। सद्गुरु उसे जगाते हैं। जागने के पश्चात् पुरुषार्थ होता है। प्रभुश्रीजी कहते थे—जागे जब से तभी सवेरा। सद्गुरु का योग होनेसे पहले भी जीवने अव्यक्त रूपसे भगवान्‌को सत्‌को जाननेकी भावना की, उसके फलस्वरूप मनुष्यभव, सत्पुरुष का योग आदि मिला। और संसारमें रोग, मरण आदि प्रसंग उपस्थित होने पर कल्याण करनेका भाव उत्पन्न होता है। उसी समय अनुकूल निमित्त मिल जाय तो आत्मा बलवान् बन कर आगे बढ़े, किन्तु वैसा निमित्त न मिले तो पुनः लग्न आदिके दूसरे प्रसंग आने पर आया हुआ वैराग्य एकदम चला जाता है। विस्मृत हो जाता है। कुछ लोग वैराग्यकी धुनमें जंगलमें या हिमालय जैसे पर्वत की गुफा में चले जाते हैं और एकान्तका सेवन करते हैं, वहाँ भी परिणाम बदलते ही चाहे जिस वस्तुमें पुनः आसक्त जाते हैं, जैसे भरतजी योगसाधन करते हरिणीके बच्चे में मुग्ध होकर बन्धको प्राप्त हुए। आत्मप्राप्तिके लिए जब तीव्र भव उत्पन्न हुआ हो उसी समय सद्गुरुका योग मिले और उपदे श्रवण किया जाय तो वैराग्य बढ़े। सत्पुरुषका योग मिला और बोध मिला तो फिर उसे स्वच्छन्द छोड़ देना चाहिए। अन्य सम इच्छाओंका परित्याग करके सद्गुरुके शरणमें रहना चाहिए अपने दोषोंको पहचान कर और दूर करके पात्रता लानी चाहिए अपने दोष न देखे और दूसरोंके दोष देखनेमें समय बर्बाद तो मित्रा हुआ योग बृथा चला जाता है। अतएव सत्संगमें आदर दूर करनेके लिए कमर कसनी चाहिए। आत्मप्राप्तिके लिए लगन लगे, सद्गुरुकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्ति करे और अपने पार्थ हो तो आत्मप्राप्ति हो। तिरनेके लिए



## २८ : नित्यनियमादि पाठ

व्रत यम है और देशावकाशिक व्रत नियम रूप है। आठ दृष्टिमें प्रथम पाँच महाव्रत रूप यम आते हैं, ऐसा कहा है। दूसरी दृष्टिमें नियम पंच—शीच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरका ध्यान आते हैं, ऐसा कहा है।

संयम बारह प्रकारका होता है—पाँच इन्द्रियोंका और छठे मनका निग्रह तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा करना।

त्याग<sup>१</sup> और वैराग्यमें क्या अन्तर है? त्याग अर्थात् किसी बाह्य वस्तु या अन्तरके विभाव भावको छोड़ना। और वैराग्य अर्थात् वि + राग = राग नहीं, अर्थात् आसक्ति रहित होने का भाव। वस्तुका त्याग कर देने पर भी उसमें आसक्ति रह सकती है। यदि आसक्ति अर्थात् रागका त्याग किया जाय तो ही उस वस्तुका त्याग टिक सकता है। अतएव जबतक आसक्ति है तबतक सच्चा त्याग नहीं है। त्याग और वैराग्य उत्कृष्ट रूपमें ऐसा किया कि सभीने प्रशंसा की, सब कुछ त्याग कर जंगल में अकेला एकदम मौन साध कर रहा। फिर भी जब तक ज्ञान नहीं तब तक संकल्प-विकल्प एवं अन्तरवाचा तो रहती ही है। वैराग्य भी ऊपरी होता है क्योंकि वह ज्ञानगर्भित नहीं। फिर कहा है—पद्मासन ऐसा लगाया कि चलायमान न हो।

मनपीन निरोध स्वबोध कियो,  
हठजोग प्रयोग सु तार भयो,

- 
१. त्याग—‘आत्मपरिणामसे भिन्न जितना अन्य पदार्थके तादात्म्य-अध्याससे निवृत्त होना है उसे श्रीजिन त्याग कहते हैं।

—श्रीमद् राजचन्द्र, अंक ५६९

‘वैराग्य—गृह-कुटुम्ब आदि भावमें अनासक्त बुद्धि होना वैराग्य है।’

—श्रीमद् राजचन्द्र, अंक ५०६



व्रत गम है और देशावकाशिक व्रत नियम गम है । आप दक्षिण प्रथम पाँच महाव्रत गम गम आते हैं, ऐसा कहा है । दूसरी दक्षिण नियम पंच—जीन, मन्त्रोप, मग, मगमगम और ईश्वरम स्थान आते हैं, ऐसा कहा है ।

संयम बारह प्रकारका होता है—पाँच इन्द्रियों का और छह मनका नियम तथा छह कार्यके जीवोंकी रक्षा करना ।

त्याग<sup>१</sup> और वैराग्यमें क्या अन्तर है ? त्याग अर्थात् किसी बाह्य वस्तु या अन्तरके विभाव भावने छोड़ना । और वैराग्य अर्थात् वि + राग = राग नहीं, अर्थात् आसक्ति रहित होने का भाव । वस्तुका त्याग कर देने पर भी उसमें आसक्ति रह सकती है । यदि आसक्ति अर्थात् रागका त्याग किया जाय तो ही उस वस्तुका त्याग टिक सकता है । अतएव जबतक आसक्ति है तबतक सच्चा त्याग नहीं है । त्याग और वैराग्य उत्कृष्ट रूपमें ऐसा किया कि सभीने प्रशंसा की, सब कुछ त्याग कर जंगल में अकेला एकदम मौन साध कर रहा । फिर भी जब तक ज्ञान नहीं तब तक संकल्प विकल्प एवं अन्तरवाचा तो रहती ही है । वैराग्य भी ऊपरी होत है क्योंकि वह ज्ञानगर्भित नहीं । फिर कहा है—पद्मासन ऐस लगाया कि चलायमान न हो ।

मनपीन निरोध स्वबोध कियो,  
हठजोग प्रयोग सु तार भयो,

१. त्याग—‘आत्मपरिणामसे भिन्न जितना अन्य पदार्थके तादात्म्य अध्याससे निवृत्त होना है उसे श्रीजिन त्याग कहते हैं ।

—श्रीमद् राजचन्द्र, अंक ५६

‘वैराग्य—गृह-कुटुम्ब आदि भावमें अनासक्त बुद्धि होना वैराग्य है ।’

—श्रीमद् राजचन्द्र, अंक ५०



प्रभु संबंधी अलौकिक प्रेम दिनोंदिन वृद्धि प्राप्त करता है। जैसे नदीका प्रवाह कहीं भी अवरोध न होकर अनिच्छानिक जोनके साथ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों भक्ति एवं प्रेम वर्धमान होता है त्यों-त्यों योग्यता आती है। इसीकी स्वार्थ कहते हैं। चाहे जैसा पापी हो वह भी इस प्रेम प्रवाहमें पवित्र बन जाता है। दृढ़-प्रहारी एक निश्चयपर अडिग रहा तो समस्त कर्मोंको निर्जरा कर डाली। इस प्रकार आत्मप्राप्तिके लिए सर्वापेक्षभावसे पूरे प्रेमके साथ सत्पुरुषकी उपासना करनेसे कर्मका क्षय होता है। यही श्रद्धा, यही प्रेम, यही मार्ग है। इसे समझानेके लिए ही सब शास्त्र लिखे गये हैं। इसकी विद्यमानतामें शास्त्र बाँचनेपर स्वयंको वैसा ही अनुभव है, ऐसा जान पड़े। प्रभुश्रीजीमें ऐसी अपूर्व भक्ति थी, इस कारण कोई भी शास्त्र वे स्वयं समझ लेते और कहते—‘शास्त्रोंका कगल हमें साक्षी पुर रहा है।’ ऐसा परम प्रेम ही श्रद्धा समकित है। वहींसे मोक्षकी शुरुआत है। उसीको ज्ञानियोंने केवलज्ञानका बीज कहा है। ऐसा दृढ़ प्रेम ज्ञानीके प्रति होनेपर आत्मदर्शन प्राप्त होता है। जहाँ आत्मज्ञान प्रकाशित होता है और उसपर अपूर्व प्रेम उत्पन्न हो जाता है वहाँ ध्यान स्थिर होनेपर आत्मदर्शन होने लगता है—अपनी आत्माका अनुभव प्रकट होता है। समाधिगतकमें कहा है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः ।

वर्तिर्दीपं यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी ॥

ज्यो : भावार्थ—ज्योत जलानी हो तो कठिन दियेमें स्नेह (तेल) भरा जाता है। जल्दी सुलग जाय ऐसी रुईकी बत्ती डाली जाती है। फिर उस बत्तीका जलते हुए दीपकके साथ संयोग किया जाता है। वह संयोग तब तक रखा जाता है जब तक बत्ती स्वयं न लगे। इस प्रकार दीपकसे दीपक जलता है। इसी प्रकार





## क्षमापणा

भगवन् ! मैं बहुत भूला

व्यवहारमें कोई दोष हुआ तो कहा जाता है—मुझसे नहीं भूल हुई, अब नहीं कहूँगा। परन्तु यहाँ जो दोष या भूल करना है वह सब भूलोंकी मूल भूल, नेद्वान्तिक भूल है, जिसकी वदीलत अनादिकालसे संसारमें भटकना पड़ रहा है। अन्यको अपना मानना और अपने आपको भूल जाना ही जन्म-मरणका कारण है। भावनावोधमें कृपालु देवने भरतेश्वरका दृष्टान्त दिया है। उसमें कहा है कि उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़नेसे भरतेश्वरको स्व-परका विचार जागृत हुआ कि मैं अपनेको सुखमान मानता हूँ पर यह तो वस्त्राभूषणकी शोभा है और शरीरकी शोभा केवल त्वचाके कारण है। त्वचा न हो तो प्रतीत होगा कि वह अतिशय दुर्गन्धयुक्त पदार्थसे भरपूर है। ऐसा यह देह भी मेरा नहीं है तो वे नवयुवतियाँ, वे कुल दोषक समझे जाने वाले पुत्र, वह अक्षय लक्ष्मी और वह छह खंडका साम्राज्य मेरा कैसे हो सकता है? इन सबको मैंने अपना माना, इनमें सुखकी कल्पना की, यह अज्ञानके कारण भूल की। अब किसीपर वस्तुमें भूल न करूँ। अहो ! मैं बहुत भूला ! इस प्रकार विचार करते ही भरतेश्वरके अन्तरमेंसे तिमिर-पटल हट गया, उनमें शुक्लध्यान प्रकट हुआ, उससे घनघाति कर्म भस्म हो गए और केवलज्ञान प्रकट हो गया। भरतेश्वर की ऋद्धि उत्कृष्ट थी तो भी उन्होंने उसका ममत्व उतार दिया।

इस प्रकार प्रत्येक जीव विचार करे तो समझमें आ जाय कि अनादि कालसे परवस्तुमें मिथ्या ममत्व धारण करके आत्मा-बन्धनको प्राप्त हुआ है। इस कारण जन्म-मरण होता है। अपना



है। स्वप्रकाशकतासे उसका अनुभव किया जा सकता है, परप्रकाशकतासे अनुमान किया जा सकता है, मिट्ट होता है। स्वपरप्रकाशकता गुण प्रत्यक्ष है और वह आत्मा का लक्षण है।

### दूसरा पद

‘आत्मा नित्य है।’ घटपटादि पदार्थ अमुक कालवर्ती हैं, आत्मा त्रिकालवर्ती है। घट-पटादि संयोगसे पदार्थ हैं, आत्मा स्वभावसे पदार्थ है। क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिए कोई भी संयोग अनुभव योग्य होते नहीं। किसी भी संयोगी द्रव्यसे चेतन-सत्ता प्रकट होने योग्य नहीं, इसलिए वह अनुत्पन्न है। असंयोगी होनेसे अविनाशी है, क्योंकि जिसकी किसी संयोगसे उत्पत्ति नहीं होती उसका किसीमें लय भी नहीं होता।

‘आत्मा नित्य है’ यह दूसरा पद है। घट-पट आदि जड़ पदार्थ परमाणुओंके संयोगसे—उनके एकत्र होनेसे बने हैं। वे जब बिखर जाते हैं तब उन पदार्थोंका नाश हुआ माना जाता है। आत्मा ऐसे किन्हीं पुद्गलोंके मेलसे या आकाशादि अन्य द्रव्योंके मिलनेसे उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु स्वाभाविक पदार्थ है। जैसे रसायन-शास्त्री हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि मिलाकर कोई नवीन पदार्थ बनाते हैं, उस प्रकार कोई आत्माको नहीं बना सका। इस प्रकार यदि आत्मा बनता होता तो बाजारमें विकता हुआ मिल सकता था। भविष्यमें भी कोई इस प्रकार आत्माको उत्पन्न कर ले, यह शक्य नहीं। तीनों कालोंमें उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अतएव वह अनुत्पन्न है। और जो अनुत्पन्न होता है वह अविनाशी भी होता है। क्योंकि किन्हीं पदार्थोंके मेलसे वह बना होता तो उन पदार्थोंके बिखरने पर उसका नाश होता। जैसे सोना घिसते-घिसते अमुक कालमें नाशको प्राप्त होता है। परन्तु आत्मा अनादि



छहों द्रव्य समय-समयसे परिणमन रूप क्रिया कर रहे हैं। पुद्गल और जीव दोनोंमें क्रिया है।

चेतनका क्रिया रूपमें प्रवर्तन होता है उसे श्रीजिनने तीन प्रकारका बतलाया है—( १ ) शुद्ध निश्चयनय विभाव परिणामको लक्ष्यमें नहीं लेता। वह शुद्ध द्रव्यको परिणतिको ही लक्ष्यमें लेता है। अतएव स्वभावपरिणमनसे अपने चेतनगुणके रूपमें ही आत्मा परिणत होता और चेतनस्वभावका ही कर्त्ता होता है। ( २ ) चेतनका जब विभावपरिणमन होता है तब अनुपचरित अर्थात् अनुभवमें आने योग्य अत्यन्त निकट संबन्ध वाले कर्मके संबन्धरूप व्यवहार नयसे आठ कर्मका कर्त्ता कहलाता है। वास्तवमें विभावपरिणामके निमित्तसे कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होकर पुण्य-पाप बंधते हैं। उन द्रव्यकर्मोंका कर्त्ता आत्मा ( असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयसे ) संबन्धके कारण कहा जाता है। वे द्रव्य कर्म यद्यपि सूक्ष्म होनेके कारण दिखाई नहीं देते परन्तु आत्माके जन्म-मरण, सुख-दुःखके कारण होनेसे महत्त्वके हैं। ( ३ ) पुद्गल पदार्थोंमें फेरफार करना गृहनिर्माण, नगरनिर्माण इत्यादि अनेक कार्य जीव करता है। वे आत्मासे विशेष दूर और स्पष्ट भिन्न हैं। अतः पुद्गल क्रियाओंका आत्मामें आरोप करने रूप उपचारसे आत्मा पुद्गल पदार्थोंका कर्त्ता है।

### चौथा पद

‘आत्मा’ भोक्ता है। जो कोई भी क्रिया है वह सफल है, निष्फल नहीं। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल भोगा जाना है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। विष खानेसे विषका फल, शक्कर खानेसे शक्करका फल, अग्निस्पर्शसे अग्निस्पर्शका फल, हिमका स्पर्श करनेसे हिमस्पर्शका फल जैसे बिना हुए नहीं रहता, उसी









कर्म आने हैं। वे दे पाते, आत्मा का कर्म होना ही नहीं योग्य लगने लगते हैं। वह जानगीया जेसा है। इसमें कर्म मिली है और नया भन नही मग होना।

**भक्ति**—गुनसत्माके प्रति भाव, पञ्चम राग, अज्ञ स्वस्वका लक्ष्य और उसे प्राप्त करनेके लिए आत्मसत्ता पर लग्नगता, प्रेम। इससे परस्वतुका मोह छटना है और गुरुसत्ता की आज्ञा में चलने पर अपने स्वरूपकी प्राप्ति होती है। भक्ति में अपने दोषोंको, अपनी कमीको जानकर दूर करे। परमात्मसत्ताको भजनेमें परमात्माके गुण प्रकट होते हैं।

ये सब साधन लौकिक अर्थके लिए नहीं परन्तु वास्तविक आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिए आराधना किये जाएँ तो मोक्षके उपाय हैं।

मोक्षके इन साधनोंमें सर्वप्रथम ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहा है। सम्यग्ज्ञान आत्मा है। वह कैसे प्राप्त हो ? ध्यान और स्वाध्यायसे। स्वाध्यायका अर्थ है आत्माका लक्ष्य प्राप्त करनेके लिए सीखना, पढ़ना, विचारना, ज्ञानकी आराधना करना। वह स्वाध्याय पाँच प्रकारका है—( १ ) वाचनागुरुसे कुछ सीखनेकी आज्ञा मिलना अथवा गुरु शिष्यको विधिपूर्वक वाचना अर्थात् पाठ देता है। ( २ ) पृच्छना अर्थात् अपनी या दूसरेकी शंका दूर करनेके लिए विनयपूर्वक पूछना और जो गुरु कहे उसका अवधारण करना। ( ३ ) परिवर्तना अर्थात् फेरना। एक बार वाँचना है, कंठस्थ किया है, उसे बार-बार वाँचना, फेरना, धुन लगाना। ऐसा करनेसे चित्त एकाग्र होता है और एकाग्र होकर आत्मामें जुड़ता है। मुखपाठ फेरनेका यही लक्ष्य होना चाहिए। प्रभुश्रीजी कहते थे—‘पाना फिरे और सोना झरे।’ कृपालुदेव एक ही गाथा घंटा दो घंटा तक बोलते रहते थे। ( ४ ) अनुप्रेक्षा अर्थात् अर्थका विचार करना, भावना करना। ( ५ ) धर्मकथा अर्थात् कोई विचार आया हो तो व्यवस्थित रूपसे बतलाना, व्याख्यान या चर्चा। धर्मकथा



उपशम वैराग्य—कषाय नष्ट न होना उपशम और पूरुष कुपुष्प आदिम आराधन न होना वैराग्य है। अन्तरा भावना भावना विषय दृढ़ होता है।

भक्ति—मोक्षके लिए ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग यों दो मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग जो ज्ञान प्रकट है उसमें एकत्र होकर समीक्षा प्रकट होता है, फिर सम्यग्ज्ञानकी आराधना करते-करते, उसीमें स्थिर होनेपर कर्म क्षय करके केवलज्ञान प्रकट करता है। यह मार्ग बहुत विकट है। कोई तीर्थकर जेगा बलवान् पुरुष इसके द्वारा कर्मोंका क्षय कर सकता है। मोक्ष बहुत बलवान् है। वह उदयमें आकर, आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न करके, विषयभोगमें आसक्त बनाकर सम-  
-क्तिसे पतित कर देता है।

समर्पितकी उत्पत्तिमें प्रथम सत्पुरुषके अवलम्बनसे ही बल आता है। जो बलवान् पुरुष वर्त्तीमान जन्ममें निरालम्बन होकर समर्पित प्रकट करते हैं उन्होंने भी पूर्व जन्ममें सत्पुरुषकी आराधनाकी होती है। अतएव समर्पित होनेमें सत्पुरुष ज्ञानी गुरुका अव-  
-लम्बन बल प्रदान करनेवाला है और ठेठ केवलज्ञानको प्राप्ति होने तक ज्ञानीका आलम्बन सामान्य बल वाले जीवोंको आवश्यक होता है। ज्ञानीकी आराधना करते हुए, उसकी आज्ञामें चलते हुए, उनके वचनोंका विचार करते हुए सुगमतासे आत्मभावना उत्पन्न की जा सकती है। मान आदि शत्रुओंका नाश किया जा सकता है।

भक्ति आदि साधनोंका कथन किया गया। उनमें विनय, दान तप आदि अनेक साधन कर्मोंका क्षय करनेके लिए एवं ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आत्मको आवश्यक हैं। शुरुआतमें, समर्पित होनेमें जीवोंको भिन्न-भिन्न साधन विशेष हितकारी होते हैं, किन्तु आगे होने पर कर्मक्षयका मार्ग सब जीवोंके लिए समान होता जाता है।



रहा और जिसकी प्राप्तिसे अब अनन्तकाल तक सुखी रहेगा ऐसी आत्माकी अनन्त समृद्धि प्राप्त कर ली, अतः कृतार्थताका अनुभव होता है कि मुझे जो करना था सो कर चुका—मनुष्यजन्ममें प्राप्त करने योग्य एकमात्र सम्प्रकत्व है, वह मुझे प्राप्त हो गया ।

जिन-जिन पुरुषोंको इन छह पदोंका सप्रमाण परम पुरुषके वचनसे निश्चय हुआ है उन सर्व पुरुषोंने स्वरूपको पाया है, आधि, व्याधि, उपाधि, सर्व संगसे वे रहित हुए हैं, होते हैं और भावी कालमें भी ऐसा हो होगा ।

ये छह पद जिसको अनुभवसिद्ध हुए हैं ऐसे परम पुरुषके वचन सुनकर जिन्होंने आत्माका निश्चय किया और पुरुषार्थ करके अपनी आत्माका साक्षात्कार किया वे पुरुष परिणामस्वरूप आधि व्याधि उपाधि रूप संसारके संगसे मुक्त हुए हैं, होते हैं और होंगे । ज्ञानीके वचन सुने, श्रद्धे और अनुभवरूप निश्चय समकित भी हुआ तो मोक्ष अवश्य होगा ।

जिन सत्पुरुषोंने जन्म जरा मरणका नाश करनेवाला एवं स्व-स्वरूपमें सहज अवस्थान होनेका उपदेश कहा है, उन सत्पुरुषोंको अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार है । उनकी निष्कारण करुणाका नित्य-प्रति स्तवन करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रकट होता है । ऐसे सर्व सत्पुरुषोंके चरणारविन्द सदा हृदयमें स्थापित रहें ।

अब सत्पुरुषोंका उपकार कहते हैं कि उन्होंने आत्मस्वरूपमें सहज स्थिति करनेका उपदेश किया । जिसके अनुसार वर्तनेका फल क्या ? जन्म जरा मरण आदिका अन्त होता है । इस अनन्त दुःख-रूप संसारमेंसे अनन्त मुखरूप मोक्ष प्राप्त करने रूप महान् उपकार सत्पुरुषोंने बोध देकर किया है । ऐसा करनेमें उन्होंने अपने पाससे कल नदले की स्पृहा नहीं रखी । उनके समस्त कार्य पूर्ण हो चुके



## ६६ : नित्यनियमादि पाठ

सत्पुरुषने सद्गुरुकी भक्ति बतलाई सो वह भक्ति आत्माके परम कल्याणका कारण है, अतएव जरा देरके लिए भी उसका त्याग न करे। सारे दिन और रात भक्ति करे। उस भक्तिमें वर्तनेसे प्रत्येक क्रिया करते समय यह ध्यान रहता है कि सत्पुरुष कैसे वर्ताव करते हैं। प्रत्येक कार्य करते हुए सत्पुरुषका लक्ष्य आत्माके ही प्रति बना रहता है। "जिसकी मनोवृत्ति निरावाध रहती है, जिसके संकल्प-विकल्पमें मन्दता आ गई है, पाँच विषयोंसे विरक्त बुद्धिके अंकुर जिसमें फूट निकले हैं, जिसने क्लेशके कारणोंको निर्मूल कर दिया है (चाहे जैसे प्रसंगमें भी बुरा न लगे ऐसी समझ दृढ़ कर ली है), जो अनेकान्तदृष्टि युक्त एकान्त दृष्टिका सेवन करता है। (सर्व समय यह, यह, यही), और जिसकी एकमात्र शुद्ध वृत्ति ही है वह प्रनापी पुरुष जयवन्त हो। अपनेको वैसा बननेका प्रयत्न करना चाहिए।" सत्पुरुष अपना उपयोग आत्माकी ओर ही रखते हैं। 'देहमे भिन्न आत्मा हूँ' इसे भूलते नहीं। हम देहादिमें जैसे एकाकार हो जाते हैं वैसे वे नहीं होते। उनका भेदज्ञान निरन्तर जागृत रहता है। इस प्रकारकी उनकी आत्माकी चेष्टापर प्रेम-भक्ति जागृत होनेपर यदि उन्हींका स्मरण करे, उन्हींको इच्छा करे, उन्हींका ध्यान करे तो अपनेमें अपूर्व गुण अर्थात् समकित-आत्माका अनुभव दृष्टिगोचर होने लगे और उसका अद्भुत आनन्द सगर्भ में आनन्द स्वच्छन्दभावमें जो दूसरे-दूसरे व्यापार करता था अपने विमुक्त हो जाय। आत्मगुण पानेके लिए प्रयत्न करे। परमेश्वरकी दृष्टि वृत्ति नियोज्य करके आत्मामें लीन हो। आत्मामें आत्मामें अनुभवकी ली लीन जाय तो फिर स्वच्छन्द-अविवारित-न-को-बाधित हो रहा था वह आप ही आप दृढ़ जाता है। सत्पुरुष की भक्तिसे सत्पुरुषकी आज्ञाके अनुसार वर्ताव हो। प्रत्येक काममें सत्पुरुष की वृत्ति है? मैं कैसे बर्तूँ तो उन्हें रचे? इस प्रकार प्रत्येक काम आत्माकी परिमर्षको देनी हो बना लेनेसे स्वच्छन्द भाव





समकित ।' आत्माका समकित गुण प्रकट हुआ, वह गुण आत्माके अनन्त गुणोंको एक समान प्रकट करनेवाला है । अतः उसके द्वारा आंशिक रूपसे सभी गुण प्रकट हुए । इस कारण श्रद्धाके रूपमें सभी गुण प्रकट हो गए ।

शुद्ध स्वरूपका अनुभव होनेके पश्चात् उसका ही विचार आवा करता है । किसी चीजकी तीव्र इच्छा हो और वह मिल जाय तो जीवको उसीका विचार आता रहता है । वह उसीका ध्यान रखकर प्रवर्तन करता है । उसी प्रकार यहाँ श्रद्धासे केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, अतः अब उसी स्वरूपका विचार करता है । उसीकी सतत् इच्छा रहती है । सम्यक्त्वकी संसार संबंधी कोई इच्छा नहीं होती, एकमात्र शुद्धात्माका विचार और उसीकी इच्छा रहती है । शुद्ध निश्चयनयसे तो सर्व आत्माओंमें केवलज्ञान है । इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकारसे केवलज्ञानकी भावना होनेपर परिणामस्वरूप समस्त दुःखका अन्त हो जाता है और आत्माको अनन्त अविनाशी शाश्वत सुख प्राप्त होता है । उसको सत्पुरुषके वचनसे जो जीव प्राप्त करने योग्य बना अर्थात् जिस सत्पुरुषके वचनबलसे समकित पाकर केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य हुआ, ऐसे परमपूज्य सत्पुरुषके अनुपम उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे वारंवार नमस्कार हो ! नमस्कार हो !



## बिना नयन पावे नहीं

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात ।

सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात् ॥१॥

यहाँ प्रथम पंक्तिके कई अर्थ किये जा सकते हैं ।

१. बिना नयन—अन्तर्चक्षुके अभावमें आत्मा, जो बाह्य चक्षु-से दिखाई नहीं देता, उसकी बात समझमें नहीं आती ।

२. दूसरा अर्थ—नी-नय धातुसे 'नयन' शब्द बना है जिसका अर्थ है ले जाना, प्रेरित करना ।

आत्मप्राप्तिके लिए सद्गुरु चाहिए । सद्गुरु आत्माकी ओर ले जाते हैं परन्तु किनारे तक पहुँचनेके लिए तो स्वयं ही पुरुषार्थ करना पड़ता है । वहाँ दूसरा कोई नहीं पहुँचा सकता । अमुक सीमा तक पहुँचाया जा सकता है किन्तु आगे तो जीवको स्वयं ही प्रयत्न करके गहराईमें उतरना चाहिए । श्री तीर्थकर जैसे भी आत्मा हाथमें नहीं साँप सकते । वे उपदेश करते हैं परन्तु उस मार्गपर चलकर प्राप्त करना तो जीवपर ही निर्भर है । सद्गुरुके बिना ऐसा होता नहीं । सद्गुरु मिले और उसकी आज्ञाका आराधन करे वही वास्तवमें प्राप्त कर सकता है ।

३. नयन—नय । जहाँ नयका प्रवेश नहीं, जो वाणीसे पर है, वह स्वरूप सद्गुरुके उपदेशके बिना प्राप्त नहीं होता ।

बुझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीत ।

पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित ॥ २ ॥

उमे प्राप्त करनेकी इच्छा हुई हो कि मुझे तो किसी भी तरहसे अपना स्वरूप जानना है, संसारसे छूटना है, इस प्रकारकी सच्ची नया जन्मी हो तो उमे बुझानेका मार्ग है । अनादि कालसे उसको गाय है । वह यह कि सद्गुरुके आधीन रहकर,



करना । पराये दोष नहीं देखना । ज्ञानीको तो उपदेश करते हैं । भी कर्त्तापन नहीं । वह तो न्यारे रहकर उदयाधीन बोलते हैं । जो कुछ भी करते हैं उससे लिप्त नहीं होते । उनका पुरुषार्थ भीन रहनेके लिए है । ज्ञानीकी सब क्रियाएँ उदयाधीन हैं, छूटनेके लिए हैं । अज्ञानीकी सब क्रियाएँ कर्मबन्धका कारण हैं । ज्ञानी उदयमें निर्लेप रहकर वर्तते हैं । वह दशा अगम्य, अत्यन्त गहन है । ज्ञानीका देश आत्मस्वरूपमें ही है—

हम परदेशी पंखी साधु आ रे देशके नाहीं रे ।

उन्होंने आत्माका अनुभव किया है, अतः आत्मार्थके लिए ही उनकी वाणी निकलती है । शुष्कज्ञानी तत्त्वकी बात करता हुआ भी बन्ध करता है । क्योंकि वह अहंकार सहित वर्तता है । उसमें आत्माका लक्ष्य नहीं, निर्लेपता नहीं, राग-द्वेषरहितता नहीं । अतएवं कर्मबन्ध होता ही है । सच्चा कर्तव्य तो उपदेश लेता है । मोक्ष होने तक पहले अपनेको तारनेके लिए पुरुषार्थ होना चाहिए ।

जप तप और व्रतादि सब, तहाँ लगी भ्रमरूप ।

जहाँ लगी नहिं संतकी, पाई कृपा अनूप ॥ ५ ॥

जो क्रियाजड़ है वह जप तप आदि स्वच्छंदभावसे करके मानता है कि मेरी मुक्ति हो जाएगी । परन्तु जब तक सन्तकृपा नहीं हुई अर्थात् आज्ञा-आराधन करके योग्यता नहीं प्राप्त की और सन्तपुरुषसम्मत प्रवृत्ति नहीं की, तब तक वह क्रिया मिथ्यात्व दृढ़ करनेवाली होती है । खोटेको खरा मनाने वाला भ्रम है । 'मोक्षमूलं गुरुकृपा' गुरुकी कृपा ही मोक्षका मूल है, समकित है । गुरुकी आज्ञासे ही जप तप सफल हैं ।

पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़ ।

पीछे लग सत्पुरुषके, तो सब बन्धन तोड़ ॥ ६ ॥



करो जोजो वचननो तुलना रे,  
जोजो शोधोन जिनसिद्धान्त । मूल० ।  
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथो रे,  
कोई पामे मुमुक्षु वात । मूल० २ ।

इन वचनोंको तुम न्यायके काटेपर ताल देखना और जैन





करी जोजो वचननो तुलना रे,  
जोजो शोधने जिनसिद्धान्त । मूल० ।  
मात्र कहेयुं परमारथ हेतुथी रे,  
कोई पामे मुमुक्षु वात । मूल० २ ।

त वचनोंको तुम न्यायके काटेपर ताल देत-



पण ज्ञानादिती जे शुद्धता रे,  
ते तो त्रणे काले अभेद । मूळ० ४ ।

मुनिके आचाररूप व्रत और वेप संबंधी भेद द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको लक्ष्यमें रखकर जानियोंनि बतलाया है, किन्तु उस सबमें अन्तर्त्यागपर लक्ष्य रखकर मुक्त होनेका उपदेश दिया है । देश कालके अनुसार वेप, व्रत, वाह्य आचरण आदिमें भेद होता है परन्तु जिस विधिसे आत्माके ज्ञानादि गुणोंकी निर्मलता होकर मोक्ष होता है उस विधिमें मतभेद नहीं हो सकता । जो मोक्ष गए वे सब मोहनोय कर्मका क्षय करके एवं केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गए हैं । ज्ञान-दर्शन-चारित्रकी शुद्धता ही मोक्ष-मार्ग है । इस कुछ भेद नहीं । तीनों कालोंमें वह मार्ग एक सरीखा है । 'एकं होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ ।' ( आत्मसिद्धि ) अर्थात् परमार्थका मार्ग तो तीनों कालोंमें एक ही रहता है । जो वस्त्र आदिका आग्रह करते हैं उन्हें देहमें ममत्व होता है, अतएव वे सम्यक्त्वसे-मूल-मार्गसे प्रायः विमुख रहते हैं ।

हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दतो रे,  
संक्षेपे सुणो परमार्थ; मूळ० ।  
तेने जोतां विचारी विशेष थी रे,  
समजाओ उत्तम आत्मार्थ । मूळ० ५ ।

अब ज्ञान दर्शन और चारित्र, इन तीनोंका उत्कृष्ट भावार्थ संक्षेपमें कहा जाता है उसे सुनो । इस संक्षिप्त अर्थपर गहराईमें उतर कर विस्तारपूर्वक विचार करनेसे समझमें आएगा कि आत्माका हित क्या है ? 'कर विचार तो पाम' ऐसा आत्मसिद्धिमें भी कहा है ।

छे देहादियी भिन्न आत्मा रे,  
उपयोगी सदा अविनाश; मूळ० ।



मंस्थानका अर्थ है आकाश । लोक पुरुषाकार कहा गया है । अर्थात् दोनों हाथ कमरपर स्थापित पड़े लोहे के दोई पुरुष सा हो, इस आकाशका लोक है । ऐसा आश्रयमें कथन है । इसका मैं तुम्हारी समझमें कुछ आया है ? ऐसा कहो हा लेव गया है, सं समझे हो ? या केवल उपमा देकर समझानेकी ही यह चतुराई है कोई दर्शन मनुष्यदेहमें ही समग्र निश्चयका स्वस्व पदार्थ हैं—इस प्रकार यह है ? अथवा अध्यात्मदृष्टिसे आत्माके गुण ज्ञान-दर्शन आत्माकार हैं, उसमें लोकका प्रतिबिम्ब पड़ता है, इस कारण लोकको पुरुषाकार कहा है ? पुरुष शब्द देह और आत्मा—दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है । इस कारण दोनों तरफसे पूछा है ।

तुमने इस विषयमें कुछ विचार किया हो तो कहो । हम चुपचाप सुनेंगे और जो हमारी समझमें आया होगा वह कहेंगे । इस प्रकार परस्पर हितकर विचार-विनिमय करेंगे ।

२— शुं करवायी पोते सुखी ?  
शुं करवायी पोते दुखी ?



जे गाया ते सगळे एक,  
 सकल दर्शने एका त्रिक ।  
 समजाव्यानी झेली करी,  
 स्यादाव समजण वण पारी ...१.  
 मूळ स्थिति जो पूछो मने,  
 तो सोणो दखं योगी कने ।  
 प्रथम अंत ने मध्ये एक,  
 लोक रूप अलोके देण ...२.  
 जीवाजीव स्थितिने जोई,  
 टळ्छो ओरतो शंका खोई ।  
 अमज स्थिति त्यां न्हों उपाय,  
 'उपाय कां न्हों ?' शंका जाय ...३.  
 अे आश्चर्य जाणे ते जाण,  
 जाणे ज्यारे प्रगटे भाण ।  
 समजे बंधमुक्तियुत जीव,  
 तीरखी टाळ्छे शोक सदीव ...४.

अलग-अलग दर्शनोंमें अलग-अलग शैलीसे एक आत्माका ही  
 महत्त्व गाया गया है । संसार दुःखरूप है, ऐसा विवेक भी प्रत्येक





ये चारों अरूपी और निश्चल हैं। लोकमें जीव द्रव्यकी संख्या अनन्त है और पुद्गल परमाणु जीवसे भी अनन्तगुणा हैं। जीव भी स्वभावसे अरूपी और निश्चल रहनेका स्वभाववाला है परन्तु पुद्गलके साथ संयोग संबंधके कारण वह देहधारी बनता है। इस कारण वह रूपी भी कहलाता है और गति करता है। पर वास्तवमें तो एक पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। जीवद्रव्य चेतन है और ज्ञानगुणसे सम्पन्न है। शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं।

संसार अवस्थामें जीव विभाव रूपमें परिणत होता है तब पुद्गलोंका कर्म-नोकर्मके रूपमें ग्रहण होता है। अतः पुद्गल भी जीव-द्रव्यके निमित्तसे अनेक रूपोंमें परिणत होते हैं। मगर जीवों और पुद्गलपरमाणुओंकी मूल संख्यामें कुछ भी घट-बढ़ या फेरफार नहीं होता। लोकमें जितने जीव और पुद्गलपरमाणु हैं उतने ही त्रिकालमें रहते हैं। एक भी जीव या परमाणु नया बनकर बढ़ता नहीं अथवा नष्ट होकर घटता नहीं। लोकमें छहों द्रव्य एक ही स्थानपर एक ही क्षेत्रमें अवगाहना करके रहे हैं। वहाँ पुद्गलके साथ पुद्गलका और जीव तथा पुद्गलका संयोगसंबंध होता है। मगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके रूपमें कदापि परिणत नहीं होता। प्रत्येक जीव दूसरे सभी द्रव्योंसे सदा भिन्न अस्तित्व बनाये रखकर कायम रहता है। अतएव द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर लोकका स्वरूप तीनों कालोंमें एक-सा ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार सर्वज्ञके कथनानुसार लोकमें रहे जीवाजीव रूप छह द्रव्योंकी स्थिति देखी तो जिज्ञासा तृप्त हुई—जाननेकी इच्छा रूप जो व्याकुलता थी वह मिट गई और शंका दूर होकर श्रद्धा आ गई। लोक तीनों कालोंमें इसी स्वरूपमें रहने वाला है। उसे अन्य रूपमें करनेका किसीमें सामर्थ्य नहीं है। क्यों अन्य रूपमें नहीं बन सकता? इत्यादि शंकाएँ अपने आप विलीन हो जाती हैं।



उदयमें आते रहते हैं। इस प्रकार संसारी जीवोंको कर्मका उदय निरन्तर रहता है। वह सूक्ष्मरूप होनेसे जान नहीं पड़ता। फिर वह योग्य निमित्त पाकर रस देता है। उससे जीवमें आकुलता होती है और तदनुसार जैसा भाव जीवमें समय-समय पर उत्पन्न होता है वैसे ही नये कर्म बँधते जाते हैं। उन कर्मोंके प्रकार स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा और व्युच्छित्तिके क्रम आदिका वर्णन जीवस्थान, गुणस्थान आदिके रूपमें सर्वज्ञ भगवान्‌के उपदेशके अनुसार कर्मग्रन्थ आदिमें किया गया है। इसके अतिरिक्त कर्मसे मुक्त होनेकी विचारणाके रूपमें नवतत्त्व पदस्थानक आदिका कथन किया गया है। जीव यदि कर्मके उदयमें लिप्त न होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें परिणत हो तो छूट सकता है। परन्तु कर्मविषयक ज्ञान न हो तो उसमें भूल हो जानेकी संभावना रहती है। अतएव पृथग्ल कर्मरचना आदिका ज्ञान पहले प्राप्त करना चाहिए। उममें समझमें आ जाता है कि इस चीजमें गुरु प्रमाण लोकमें अनन्त-अनन्त संसारी जीव चार गतियों और चौरासी व्यास योगियोंमें चित्र-विचित्र देहको धारण करते हुए पूर्ण कर्मोंमें बद्ध होकर दुःखके भाजन बन रहे हैं। उममें छुटकारा पाने का साधन एक मनुष्यवंशमें ही है। किन्तु इस मनुष्यवंशकी प्राप्ति अति दुर्लभ है। अविनाश पुण्यके योगमें इस देहकी प्राप्ति हुई है और समझके योगमें समझमें ही प्राप्ति हुई है। यह समझ को पर जीव इस अमरत्व संस्कारों पाकर आत्मस्थान में परिणत हो कर स्वयं प्रगल्भ करके अनन्त आनन्दस्थान द्वारा कर्मों से मुक्त होकर उदय में रहता है। यद्यपि अनन्त देहोंकी भाँति मनुष्यवंश भी दुर्लभ है तथापि इस देहकी प्राप्ति आदि की देहों की भाँति इस देहमें भी आनन्द प्राप्त होता है। अतएव मनुष्यवंश की प्राप्ति ही उदय में रहने का साधन है। अतएव मनुष्यवंश की प्राप्ति ही उदय में रहने का साधन है।







कर । तू ऐसा करने जाता है तो मर जाता है । इसे खबर नहीं । समझता है कि इसमें क्या है ? बोलता हूँ, अर्थात् कुछ नहीं । पर ज्ञानीने जो आत्मा जाना है, वैसा भेद दूसरेमें नहीं जाना । केवल भेद जाननेकी आवश्यकता है । जब तक आत्मा नहीं जाना तब तक परको ही आत्मा समझे बैठा है और इससे नरक तिर्यञ्च वगैरहमें भटकता है । अतः त्याग हो करना । चौथा व्रत महान्से महान् है ।

सुन्दर शिष्य सुस्तरु, मन वाणी ने देह ।

जे नर नारी सेवसे, अनुपम फल ले तेह ॥ ६ ॥

यह उत्तम शीलव्रत सुस्तरु-कल्पवृक्षके समान फल प्रदान करने-वाला है । मन, वाणी और देह ये जहर हैं । मन वचन कायासे ब्रह्मचर्यरूपी कल्पवृक्षका सेवन करनेवालेका संसार शीघ्र नष्ट हो जाता है । जो नर-नारी इस व्रतकी भावना करेगा वह अनुपम फल, मोक्ष पाएगा ।

पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान ।

पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७ ॥

पात्र बिना वस्तु नहीं रहतो, क्योंकि वस्तुके लिए भाजन चाहिए । पानी आदिके लिए पात्र चाहिए । इसी तरह पात्रताके लिए ब्रह्मचर्य है । यह मोटा स्तम्भ है । अगर मन विषयविकारकी ओर जाय तो कटार लेकर मर जाना, जहर खा लेना । जीवको आत्माका भान नहीं । खबर नहीं है । जीवके लिए एक सार वस्तु बड़ीसे बड़ी ब्रह्मचर्य है । अपनी या परायी स्त्रीका सेवन न करना । साग लोक स्त्रीसे बँधा है और इससे जन्म-मरण होगा । अतएव इसे छोड़ । छोड़े बिना छुटकारा नहीं । यह चमत्कारी बात है । जो इसे लेगा उसका काम बन जाएगा । वीतरागका मार्ग अपरं है । जितना करे उतना ही कम है । पात्र बननेके लिए ब्रह्मचर्यका निरन्तर सेवन करता है ।





वह पूजा-सत्कारादिसे पराभवको प्राप्त होता है और आत्मार्थसे चूक जाता है । ( ७ )

भावार्थ—जिसके हृदयमें त्याग-वैराग्यका वास नहीं उसे आत्म-ज्ञान नहीं होता; अतएव जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करना हो उसे चाहिए कि उसके कारणोंमें जो कमी है उसकी पूर्ति कर ले । और त्याग-वैराग्य रूप आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारणोंका जो सेवन करत हो उसे उन साधनोंको ही साध्य माननेको भूल त्याग देनी चाहिए क्योंकि त्याग-वैराग्यकी उपासना आत्मज्ञानके लिए की जाती है जो त्याग-वैराग्यका आग्रह या अभिमान करता है उसे इन साधनों द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता । उसकी समस्त क्रियाएँ लक्ष्य हीन वाणकी भाँति निरर्थक सिद्ध होती हैं । ( ७ )

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह ।

त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

अर्थ—जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है वहाँ-वहाँ उसे समझे और वहाँ-वहाँ उस-उसका आचरण करे । यह आत्मार्थी पुरुषके लक्ष्य हैं ॥ ( ८ )

भावार्थ—आत्मार्थी जीवके लिए यही उचित है कि जिस-जि अवस्थामें जो-जो साधन कम हो उसकी पूर्ति कर ले । इस तथ्य पहले समझ लेना चाहिए । तत्पश्चात् अमुक-अमुक अवस्थ अनुकूल साधन प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करना योग्य है । क्रियावत् हो उसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिका लक्ष्य चूके बिना, और रहित पुरुषार्थ करना चाहिए और मुक्तज्ञानीको मोक्ष-प्रवृत्तिसे बचाकर, त्याग-वैराग्य बढ़ाकर यथार्थ आत्मज्ञान करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए । ( ८ )

नेवे सत्पुरुषवरणने, त्यागी दई निज पक्ष ।

पाने हो परमार्थने, निज पदनों ले लक्ष ॥ ९ ॥



अर्थ—आत्मज्ञानमें जिसकी स्थिति है, जहाँ जो परभावकी इच्छासे रहित हो गया है, तथा मान् मित्र, सर्व जोर, नमस्कार तिरस्कार आदिके प्रति जिममें समताभाव वर्तता है, मान् पूर्वकृत कर्मोंके उदयके कारण जिमकी विचरण आदि क्रियाएँ होती हैं, अज्ञानीकी अपेक्षा जिसकी वाणीमें प्रत्यक्ष भेद जान पड़ता है और जो पटुदर्शनके मर्मकी जानता है, वह सद्गुरु है। ये सद्गुरुके लक्षण हैं। ( १० )

भावार्थ—जिस सद्गुरुकी भक्ति, उपासनासे अपूर्व लाभ होता है, अब उसके लक्षण बतलाते हैं—ज्ञानीसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है अतएव सद्गुरुका प्रथम लक्षण आत्मज्ञान है। दूसरा लक्षण 'सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो, आ वचनने हृदये लखो' इस प्रकारके सम-भावपूर्वक जिसका वर्तन ( अन्तर्चर्या ) हो, जिनका विचरण लोभ आदिके कारण नहीं बरन् पूर्वमें बाँधे कर्मकी प्रेरणासे ही होता है। यह तीसरा लक्षण है। जिसकी वाणी कपायरहित तथा आत्मज्ञान-सहित निकलती है, 'शास्त्रमें नहीं, सुना नहीं, फिर भी जैसा अनुभवमें आता है वैसा जिसका कथन है, अन्तरंगमें स्पृहा नहीं ऐसी जिसकी गुप्त आचरणा है,' यह चौथा लक्षण कहा। सर्वमान्य सर्वधर्मसम्मत छहों दर्शनोंका सारभूत जिसका शास्त्रज्ञान है, यह पाँचवाँ लक्षण है। आत्मधर्मका उपदेश देनेके लिए मुख्यतः इस कोटिके महापुरुष योग्य गिने जाते हैं। ( १० )

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।

एवो लक्ष तथा बिना, ऊँगे न आत्मविचार ॥ ११ ॥

अर्थ—जब तक जीवका लक्ष्य पूर्व कालमें हुए जिनकी बातपर ही बना रहे और उनका उपकार कहा करे, किन्तु जिससे प्रत्यक्ष आत्मभ्रान्तिका समाधान होता है ऐसे सद्गुरुका समागम प्राप्त हुआ हो, उसमें परोक्ष जिनेश्वरोंके वचनकी अपेक्षा महान् उपकार



भावार्थ—आत्महितकारी सद्गुरुका उपदेश सुने बिना, समझे बिना जिनेश्वर भगवान्‌का भक्ति करने योग्य सहजात्मस्वरूप समझा नहीं जा सकता, समझे बिना उनका किया उपकार स्फुरित नहीं हो तब तक भक्ति नहीं जागती। अतएव सद्गुरुकी वाणी द्वारा सर्वज्ञ भगवन्तकी अपूर्वता भासित होती है और अपनी आत्माकी जागृति प्राप्त कर 'जिनस्वरूप ही मेरा स्वरूप है' ऐसा मानकर उसकी उपासना करता-करता स्वयं उसी रूप बन जाता है। सद्गुरुके प्रति कृतज्ञ बुद्धि इस सबका कारण है।

‘अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु, कृष्णासिन्धु अपार ।

आ पामरपर प्रभु कयों, अहो ! अहो ! उपकार ॥

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र ।

प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥ १३ ॥

अर्थ—जो जिनागमादि आत्माके अस्तित्वका तथा परलोकादि-के अस्तित्वका उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं, वे भी जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप हैं। परन्तु वे सद्गुरुके समान भ्रान्तिके छेदक नहीं कहे जा सकते। ( १३ )

भावार्थ—सद्गुरुका योग जब तक मिले तब तक क्या किया जाय ? यह बतानेके लिए तथा सत्शास्त्र कितने अंशमें उपकारक हैं, यह बतानेके लिए कहते हैं—

आत्मा आदि नस्त्रोंका जिनमें विवेचन है ऐसे शास्त्र, जब तक प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न मिले तब तक सुपात्र, अधिकारी, पूर्वके संस्कारों जीवोंके लिए आधारभूत हैं, वैराग्य एवं उपशमके मूल कारण हैं, पूर्वके किसी आराधकको तो स्वरूपप्राप्तिके भी कारण हैं और स्वयंनियंत्रण होनेमें भी महद् उपकारी हैं। सद्गुरुका योग निरन्तर रहना दुर्लभ है। अतएव जब वह योग न हो तब सा-  
माान्य मनुष्यप्रसादके लिए परम विवेक मुख्य है। ( १३ )



१२६ : नित्यनियमादि पाठ

गुरुको सच्चा गुरु मानता है अथवा तो अपने कुलधर्मका चाहे जैः  
गुरु हो, पर उसीमें ममत्व रखता है । ( २४ )

**भावार्थ—**कितने प्रकारके मतार्थी कहे ?

१—ज्ञानरहित बाह्य त्यागीको गुरु मानने वाला ।

२—जो अपना कुलगुरु माना जाता हो वह त्यागी हो या न हो, पर उसीको अपना गुरु मानने वाला । ( २४ )

जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि ।

वर्णत समजे जिननुं, रोकीं रहे निज बुद्धि ॥२५॥

अर्थ—जो जिनके देहादिकके वर्णनको जिनका वर्णन समझता है और मात्र अपने कुलपरम्पराके देव हैं, ऐसे ममत्वभावसे कल्पित रागके बन्धीभूत होकर समवसरण आदिका माहात्म्य गाया करता है; और उगमें अपनी बुद्धिको रोक रखता है; अर्थात् परमार्थका हेतुस्वरूप जिनका जो अन्तरंग स्वरूप जानने योग्य है उसे नहीं जानता और न जाननेका यत्न करता है तथा मात्र समवसरण आदिमें जिनका स्वरूप कहकर मतार्थमें रहता है । ( २५ )

भावार्थ—३ भगवान्की वात्सल्य विभूति, आहार-मूर्ति आदिको  
दीक्षण दत्तता वर्णन समझे; मूर्ति परमो आत्मगुणोंका विचार न  
करे । ( ४ मन्वर्षोंका तीसरा प्रकार है । )

प्रत्यक्षं सदापुण्यं, तेषां, कौं दृष्टिं विमुक्त ।

अथःपुनरेवमुक्तं, निजमात्मनेषुप्र॥२३॥

अर्थ - १. मर्त्य जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
२. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
३. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
४. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
५. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
६. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
७. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
८. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
९. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि  
१०. जन्ममरण चक्रात्तु योऽपि विवेकी दूरान्तरि





नकता । जब तक संगार दुःखान्तर नहीं लगता तब तक मतार्थी ही है । उसके अविश्विक जो दुःखान्तर भोगिया करता है, ज्ञानही नहीं करता है, वैराग्यका उपदेश देता है, किन्तु वास्तवमें सुख इत्यादि स्वीकार आसक्ति का पोषण करे, ऐसा शरत्कालावधि जीव भी मतार्थमें रहता है । जब तक मत्सङ्गी उपलब्धि नहीं हुई है तब तक मन सुला रहना चाहिए । न्यायसे मत्सारात्मका निर्णय करनेकी या सत्यको सत्य कहनेकी बुद्धि न हो, मन मलीन हो, तब भी आत्मार्थीपन नहीं आता । इस प्रकारके लक्षणों वाला मतार्थी वास्तवमें अभागा है । वह आत्मार्थको साधनेमें असमर्थ है । ( ३२ )

लक्षण कह्यां मतार्थीना; मतार्थ जावा काज ।

हवे कहुं आत्मार्थीना, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस प्रकार मतार्थी जीवके लक्षण कहे । उनके कहनेका प्रयोजन यह है कि इन लक्षणोंको जानकर किसी भी जीवका मतार्थ हट जाय । अब आत्मार्थीके लक्षण कहते हैं । वे लक्षण कैसे हैं ? आत्माके अव्यावाध सुखकी सामग्रीके हेतु हैं । ( ३३ )

भावार्थ—मतार्थीपन दूर करनेके हेतु ऊपर मतार्थीके लक्षण बतलाए । अब सुखकारी आत्मार्थीपन प्राप्त हो इस उद्देश्यसे आत्मार्थीके लक्षण कहते हैं । ( ३३ )

## आत्मार्थी लक्षण

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणं, ते साचा गुरु होय ।

बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय ॥ ३४ ॥

अर्थ—जहाँ आत्मज्ञान होता है वहाँ मुनिपन होता है । अर्थात् जहाँ आत्मज्ञानका अभाव है वहाँ मुनित्व संभव ही नहीं है । 'जे सम्मंति पासह ते मोणंति पासह' जहाँ समकित है अर्थात् जिसमें







मत्स्यगमं भी मिथ्यागतं, सानन्दं प्रमादं चैव इन्द्रियनिग्रहे  
आत्माके प्रति उपेक्षा हो तो मत्स्यगमक नहीं होता, ऐसा कहा  
है। किन्तु मत्स्य भी भविष्य में यहाँ दूर हो जाते हैं, क्योंकि सत्पुरुषों के  
प्रति रुचि हो जानेपर मत्स्य भर भी उन्हें भूलता नहीं। तब इन्द्रियों-  
के विषयों के प्रति उदासीनता आती है और आत्माका लक्ष्य  
होता है।

आत्माका ज्ञान कैसे हो ? विचारपूर्वक भेद करनेसे। जैसे  
अग्निको चीमटेसे पकड़ा जाता है उसी प्रकार आत्माका उसके  
लक्षणोंसे विचार करे। ज्ञानदर्शन ही आत्मा है। अन्य विभावों,  
इच्छाओं, संकल्प-विकल्प आदिसे उसे जुदा करे। बुद्धिरूपी छेनीसे  
जड़ और चेतनके अलग-अलग लक्षणोंका विचार करे। सबके  
भीतर जाननेवाला और देखनेवाला जुदा है वही आत्मा है।

‘समता रमता ऊरधता, ज्ञायकता सुखभास।

वेदकता चैतन्यता, ये सव जीव विलास।’

वृक्ष हरा-भरा सुन्दर दिखायी देता है, वहाँ जड़ न देखे किन्तु  
रमणीयता आत्माके कारण है, अतएव यह देखे कि वहाँ आत्मा  
है। और मेरा आत्मा है तो जान रहा है। यों आत्मा अरूपी है  
किन्तु उसके लक्षणोंसे वह पकड़ा जा सकता है। लक्षणोंसे उसे  
भिन्न करके, सतत् अनुभव करके, तलवार और म्यानको तरह  
देहसे भिन्न आत्मा है, यह श्रद्धा दृढ़ कर लेना चाहिए। इन्द्रियोंसे  
दिखाई देनेवाले जड़ पदार्थ क्षण-क्षणमें पलटनेवाले नाशवान् हैं,  
उनमें आत्माकी भ्रान्ति न करना, मोह न करना। एकमात्र आत्मा-  
का ही लक्षण देखना। ( २-५० )

ये, जे जाणे छे रूप।

रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥५१॥



भावार्थ—प्रत्येक इन्द्रिय अपना कार्य भिन्न-भिन्न करती है किन्तु उन सबमें जानने का कार्य करनेवाला आत्मा का उपयोग तो एक ही है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला और स्मृतिमें रखनेवाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है। ( ५२ )

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण ।

आत्मानो सत्ता वटे, तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

अर्थ—देह उसे जानता नहीं, इन्द्रियाँ उसे जानती नहीं, और द्वासोच्छ्वासरूप प्राण भी उसे जानता नहीं। ये सब आत्मा को सत्ता प्राप्त करके प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा निर्जीव रूपमें पड़े रहते हैं, ऐसा जान। ( ५३ )

भावार्थ—‘अथवा देहज आत्मा अथवा इन्द्रिय प्राण’ या देह ही आत्मा है या इन्द्रिय अथवा प्राण आत्मा है’ इस कथन के उत्तरमें कहते हैं—आत्मा देहसे भिन्न चेतन है। देह और इन्द्रियाँ जड़ हैं, उनसे आत्मा जाना नहीं जाता। जहाँ तक देह और इन्द्रियों के साथ आत्मा का संयोग है, वहीं तक वे अपना-अपना कार्य कर सकती हैं। आत्मा की सत्ता चली जाय तो वे सब निर्जीव-जड़ होकर पड़ी रहती हैं। जिसकी शक्तिसे देह और इन्द्रियाँ आदि अपना कार्य करती हैं और जिसके चले जाने पर वे अचेतन निष्क्रिय बन जाती हैं, वह चेतन वस्तु अवश्य है। उसे जुदा न मानना ही मिथ्यात्व है! आत्मा को सत्ता है तो शरीर के विभिन्न अवयवरूप यंत्र अपना अलग-अलग कार्य करते हैं। आत्मा न हो तो शव के समान शरीर किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। ( ५३ )

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय ।

प्रगटरूप चैतन्यमय, अे अँघाण सदाय ॥५४॥









बीजो शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश ।  
 देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥६०॥

अर्थ—पर दूसरी शंका यह होती है कि आत्मा है तो भी वह अविनाश अर्थात् नित्य नहीं है । आत्मा तीनों कालोंमें विद्यमान रहनेवाला पदार्थ नहीं है । वह सिर्फ देह-संयोगसे उत्पन्न होता है और वियोगसे नाशको प्राप्त होता है ॥६०॥

भावार्थ—यहाँ आत्मा नित्य नहीं क्षणिक है, यह शंका ऋजु-सूत्र नयके दो भेद करके की गई है । एक स्थूल भवपर्यायकी अपेक्षा-से, दूसरे सूक्ष्म समय-समयपर पलटनेवाले पर्यायकी अपेक्षा से । पहले यह मत प्रकट किया है कि आत्मा पंचभूतरूप देहके संयोगसे उत्पन्न होता है और पाँच भूतोंके बिखरनेसे नाशको प्राप्त होता है ।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।

अे अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥६१॥

अर्थ—अथवा वस्तु क्षण-क्षण पलटती देखी जाती है, अतः सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं । और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं जान पड़ता ॥६१॥

भावार्थ—दूसरा मत यह कहा कि द्रव्यका क्षण-क्षणमें नाश







है, उसी प्रकार चेतन का अस्थान्तरण नाश तुझे कहना है तो वह किस स्थितिमें रहता है ? अपना जैसे चरके परमाणु परमाणु समूहमें मिल गए, वैसे चेतन किस वस्तुमें मिलने योग्य है, इस बातकी तपास कर । अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अनुभव करके देखेगा तो चेतन किसीमें मिल सकने योग्य नहीं है, एवं परस्वरूपमें अवस्थान्तरको प्राप्त होने योग्य नहीं है, यह तथ्य तुझे भासमान होगा

**भावार्थ—**जगत्में जितने मूल पदार्थ (द्रव्य) हैं उनमें किसीका, कभी भी नाश नहीं होता । आधुनिक विज्ञानने भी सिद्ध किया है कि जड़ पदार्थ विघटित जाते हैं किन्तु उनमेंके परमाणुओं का नाश नहीं होता । इसी प्रकार आत्मा चेतन पदार्थ है, वह किस अन्यमें मिलकर नष्ट हो जाय, यह संभव नहीं । दूसरा कोई ऐस पदार्थ हो जिसमें वह मिल सके तो विचार देख । ( ७० )

### ( ३ ) शंका—शिष्य उवाच

कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।

अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥ ७१ ॥

**अर्थ—**जीव कर्मका कर्त्ता नहीं, कर्मका कर्त्ता कर्म है, अथवा वे अनायास ही होते रहते हैं । ऐसा न हो और जीव ही उनका कर्त्ता है ऐसा कहो तो वह जीवका धर्म ही होगा और धर्म होनेसे कभी निवृत्त नहीं होगा ।

**भावार्थ—**आत्मा नित्य है, यह समझमें आया । किन्तु प्रत्येक देहधारी जीव जुदा-जुदा प्रकारके दोखते हैं और अलग-अलग प्रकारसे सुख-दुःख प्राप्त करते हैं, अतः कर्म होने चाहिए । मगर आत्मा उन कर्मोंका कर्त्ता है, यह नहीं माना जा सकता । अतएव शिष्य शंका करता है । जैसे रस्सीसे गाय बाँधी हो तो वहाँ रस्सीकी गाँठ रस्सीके साथ ही होती है, गायके साथ गाँठ नहीं पड़ती । उसी प्रकार कर्म









**भावार्थ**—इस प्रकार कर्म जो कार्य करता है उसका अनुभव सर्वत्र होता है, जैसा कि 'मोक्षमाला' में 'कर्मके चमत्कार' के पाठमें बतलाया है। वहाँ संक्षेपमें कहा गया है कि एक राजाके यहाँ जन्मता है और राजा होता है, दूसरा बहुत मिहनत करनेपर भी गरीब रहता है। यों जीव मात्र अमुक प्रकारका फल भोगते हैं। उसका कारण पूर्वकर्म हैं। इससे सिद्ध होता है कि शुभाशुभ कर्म वेद्य अर्थान् भोगने योग्य हैं ॥८४॥

फलदाता ईश्वर तणी, अमां नथी जरूर ।

कर्म त्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥८५॥

**अर्थ**—फलदाता ईश्वरकी इसमें आवश्यकता नहीं। जहर और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्म स्वभावसे परिणत होता है। और निःसत्त्व होनेपर जहर और अमृत जैसे फल देनेसे निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भोग लेनेपर निःसत्त्व होकर निवृत्त हो जाते हैं ॥८५॥

**भावार्थ**—फल देनेकी अद्भुत शक्ति उन वैंधे हुए कर्मपुद्गलोंमें स्वभावसे ही रही हुई है। भावकर्म होनेपर जड़कर्ममें वह शक्ति प्रकट होकर द्रव्यकर्म वैंधते हैं। कालका परिपाक होनेपर वे फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। कर्मका फल जीवको मिले, इसके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं। एक छोटेसे बीजमेंसे बट जैसा विशाल वृक्ष हो जाता है। इस आधारपर पुद्गलकी अचिन्त्य शक्ति समझी जा सकती है। इसके अतिरिक्त वचनवर्गणा चेतनका स्पर्श पाकर उत्पन्न होती है, वह जड़ होनेपर भी अन्य जीवके भावपर कितना असर करती है! इसी प्रकार यंत्ररूपमें गठित पुद्गल रेलगाड़ी आदि कितनी शक्ति व्यक्त करते हैं! इन सबकी अपेक्षा भी कार्मणवर्गणा अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे और प्रभावजनकरूपसे समयपर बराबर फल देती है ॥८५॥



अर्थ—जीव कर्ता और भोक्ता हो, मगर उससे उसका मोक्ष होना संभव नहीं, क्योंकि अनन्तकाल व्यतीत हो जानेपर भी कर्म करने रूप दोष उसमें आज भी वर्तमान ही है । ( ८७ )

भावार्थ—जीव कर्मका कर्ता और भोक्ता है यह समझमें आया, किन्तु उसका मोक्ष हो सकता है यह माननेमें नहीं आता । अगर मोक्ष होना होता तो अनन्तकाल बीत जानेपर भी हुआ क्यों नहीं ? वर्तमानमें भी जीव दोषोंसे सर्वथा भरा हुआ है । अतएव मोक्षका होना माना नहीं जा सकता । ( ८७ )

शुभ करे फल भोगवे, देवादि गति मांय ।

अशुभ करे नरकादि फल, कर्मरहित न क्यांथ ॥ ८८ ॥

अर्थ—शुभ कर्म करे तो देवादि गतियोंसे उसका शुभ फल भोगता है और अशुभ कर्म करे तो नरकादि गतियोंमें उसका अशुभ फल भोगता है । किन्तु जीव कर्मरहित कहीं भी नहीं हो सकता । ( ८८ )

भावार्थ—शुभ कर्म करके देवादि गतिमें फल भोगता है । अशुभ कर्मका फल नरकादि गतिमें भोगता है । चारों गतियोंमें कहीं भी जीव कर्मरहित दृष्टिगोचर नहीं होता । जीव मात्र कर्म-सहित होनेसे शुभाशुभ फल भोगते हुए जान पड़ते हैं । ( ८८ )

( ५ ) समाधान—सद्गुरु उवाच

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफल प्रमाण ।

तेम निवृत्ति सफलता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

अर्थ—जैसे शुभाशुभ कर्मपद जीवके करनेसे होते हैं ऐसा तूने जाना है और उसका भोक्तापन समझा है; उसी प्रकार नहीं करनेसे



और वही देह है, वही देहका विकार है; वही पुत्र, वही पिता, वही शत्रु, वही मित्रादि भाव कल्पनाका हेतु है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है । ”..... ( पत्र ५३७ )

आत्माका जो मोक्षस्वरूप है, शुद्ध सिद्धस्वरूप है, उसी स्वरूप में हूँ । सर्व परद्रव्योंसे भिन्न हूँ, इस प्रकार निश्चयनयसे श्रद्धापूर्वक, उदय आनेवाले कर्मों और संयोगोंसे अपनेको सर्वथा भिन्न हो अनुभव करे । इस प्रकारका जो शुद्ध आत्मभाव है वही अपना घर है । वहाँ स्थिति करनी है । वह ज्ञानस्वरूप है । कर्मके साथ एकता उत्पन्न करनेवाला अज्ञानभाव है । अन्धकारके साथ उसको तुलना की गई है । जैसे अन्धकारमें एक वस्तु दूसरे रूपमें दिखाई देती है, भूल होती है, भय लगता है; उसी प्रकार परमें एकता करके वर्तनेसे आत्माको पदार्थ अन्यथा रूपमें भासित होते हैं, राग-द्वेष होते हैं और संसारभ्रमणका भय उपस्थित होता है । जैसे प्रकाशका उदय हो तो अन्धकार नष्ट हो जाता है और पदार्थ जैसे हैं वैसे दिखाई देते हैं और सर्व भय दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व अर्थात् ‘मैं आत्मस्वरूप हूँ’ ऐसा अनुभव होनेपर देह और रागादिकके साथ जो एकता है वह टल जाती है । अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिर होनेपर कर्मबन्ध नहीं होता । इससे संसारका भय दूर हो जाता है । ( ९८ )

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ ।

ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो जो कारण कर्मबन्धके हैं वे सब कर्मबन्धके मार्ग हैं । और उन-उन कारणोंको छेदन करनेवाली जो दशा है वह मोक्षका मार्ग है, भवका अन्त है । ( ९९ )

भावार्थ—कर्मका बन्ध हो, इस प्रकारसे वर्तना बन्ध अर्थात् संसारभ्रमणका मार्ग है । आस्रवके ५७ द्वार कहे हैं, वे सब





१७६ : नित्यनियमादि पाठ

होना चाहिए। इससे आत्मा कर्मसे छूटता है। यह मोक्षका मार्ग है। (१००)

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।

जेथी केवल पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥१०१॥

अर्थ—सत् अर्थात् अविनाशो और चैतन्यमय अर्थात् सर्व भवोंको प्रकाश करनेके स्वभाववाला, 'सर्वाभास रहित' अर्थात् अन्य सब विभावों और देहादि संयोगके आभाससे रहित, केवल अर्थात् शुद्ध आत्मा प्राप्त करे, इस प्रकार प्रवृत्ति हो तो वह मोक्ष-मार्ग है। (१०१)

भावार्थ—आत्मा सत् अर्थात् अस्तित्वमय द्रव्य है और उसका लक्षण चैतन्य—ज्ञान-दर्शन है। वह जैसा है वैसा ही स्वरूप जिसके द्वारा पाया जाय वह मोक्षका मार्ग है। आत्माको नहीं जाननेवाले बहुत लोग उसे भास रूपमें कल्पित करते हैं। वे मान लेते हैं कि मुझे आत्माका दर्शन हुआ। कोई श्वास रोकनेमें आत्मा मानते हैं, कोई प्रकाश वगैरहका दिखना आत्मा मानते हैं। शरीरमें जीव है या नहीं, यह श्वास हलन-चलन आदि क्रियासे जाना जाता है, इस कारण श्वास, क्रिया आदिको आत्माके लक्षण समझते हैं। ऐसे आभासोंसे रहित, अधिक नहीं और कम नहीं—जैसा है वैसा केवल—शुद्धात्माके स्वरूपका अनुभव करना ही निश्चय मोक्षमार्ग बतलाया गया है। (१०१)

कर्म अनन्त प्रकारनां, तेमां मुखे आठ।

तेमां मुखे मोहनोय, हणाय ते कहूँ पाठ ॥१०२॥

अर्थ—कर्म अनन्त प्रकारके हैं, परन्तु उसके ज्ञानावरण आदि मुख्य प्रकार आठ हैं। इनमें भी मोहनोय मुख्य है। उस मोहनोय कर्मका नाश हो उसका पाठ कहता हूँ। (१०२)

1

2

3

4

5

बालक जैसी मरलता रखना; लोभ पर विजय पानेके लिए संतोष रखना, संक्षेपमें कपायरहित वीतरागभावमें रहना । ऐसा किया जाय तो क्रोधादि चारित्र्यमोहका नाश होता है । इसका थोड़ा-बहुत अनुभव प्रत्येकको होता है । सच्चा मार्ग समझमें आया, सच्ची पकड़ आई, फिर शंकाओंके लिए अवकाश ही नहीं रहता । फिर तो उसके अनुसार वर्तना ही शुरू कर देना चाहिए । ( १०४ )

छोड़ी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।

कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥१०५॥

अर्थ—यह मेरा मत है, इसलिए मुझे इससे चिपटा ही रहना चाहिए अथवा यह मेरा दर्शन है, अतएव चाहे जैसे मुझे सिद्ध करना ही है, ऐसा आग्रह अथवा ऐसा विकल्प त्याग कर कहे हुए इस मार्ग का जो साधन करेगा उसके अल्प जन्म जानना । यहाँ 'जन्म' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है । वह यह दर्शने के लिए है कि कदाचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा जघन्य या मध्यम परिणामकी धारासे उनका आराधन किया हो तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेके कारण दूसरा जन्म होना संभव है । पर वे बहुत नहीं, अल्प ही । 'सम्यक्त्व प्राप्तिके पश्चात् अगर वमन न किया जाय तो अधिकसे अधिक पन्द्रह भव हों, ऐसा जिनेश्वरने कहा है ।' और 'जो उत्कृष्ट रूपसे आराधन करे उसका उसी भवमें मोक्ष हो ।' यहाँ इस कथनका विरोध नहीं है । ( १०५ )

भावार्थ—सद्गुरुके मिलनेसे पहले अपनी मति-कल्पनासे किसी मत या दर्शनके विषयमें आग्रह उत्पन्न हो गया हो कि—इसीसे मोक्ष होता है, यही धर्म है, जानो तो ऐसी ही प्रवृत्ति करते हैं आदि; तो इस आग्रहको त्याग देना चाहिए । आग्रहको दृढ़ करने वाले अनेक विकल्प होते हैं, जैसे—इस मतको बहुत मानते हैं इस कारण यही सच्चा होना चाहिए, दुनियामें यही अच्छा





• • • • •

*Journal of Management Studies*, 19(1), 67-80.

;

•

3.

144

श्रद्धारूप व्यवहारसम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। फिर वह जीव अपने दोषोंको खोजकर अन्तरको शुद्ध करनेके लिए प्रवृत्ति करता है। अन्तरात्मा होकर कपायोंको घटानेके लिए पुरुषार्थ करता है। ( १०९ )

मत दर्शन आग्रह तजी, बर्ते सदगुरुलक्ष ।

लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

अर्थ—मत और दर्शनका आग्रह त्यागकर जो सदगुरुके लक्ष्यमें प्रवृत्त होता है वह शुद्ध समकित पाता है जिसमें भेद तथा पक्ष नहीं होता। ( ११० )

भाषार्थ—सत्पुरुषके मिलनेसे पूर्व अपनी मान्यतामें किसी मत या दर्शनके प्रति आग्रह हो गया हो तो उसे छोड़ दे और अपनी सारी समझ सदगुरुके उपदेशके अनुसार बदल दे। अरिहंत—सिद्धका स्वरूप आदि पहले ओषसंज्ञासे समझता था, उस सबमें सदगुरु मिलनेके बाद परिवर्तन हो जाता है। सदगुरुके लक्ष्यके अनुसार वर्तने पर अरिहन्तसिद्धकी आत्माकी दशा इस प्रकारकी होती है, यह समझमें आ जाता है। इसप्रकार सदगुरुके लक्ष्यके अनुसार अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। उनकी आज्ञाका अनुसरण करना चाहिए। उनकी भक्ति तथा गुणस्मरण करनेमें व्यवहार समकित है। यह व्यवहारसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्वके होनेमें कारण है, इतना ही नहीं बरन् ठेठ बारहवें गुणस्थानके अन्त तक ज्ञानी पुरुषका और उनके वचनके आशयका अवलम्बन आवश्यक है। जब समकितकी आवरण करनेवाली सात प्रकृतियोंका अपशम, धयोपशम या क्षय होता है तब निश्चयसमकित हुआ कहा जा

१. मिथ्यात्वमोहनीय, मिथ्यमोहनीय, समकितमोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी  
क्रोध-मान-माया-दोष ।





१८६ : निरानिगमादि पाठ

ऐसा मान लेते हैं कि सर्व भावकाय युवा है। ऐसे कल्पित भावकाय को वास्तव में नहीं है। एक मात्र समीक्षा ही उनके चारों ओर होती भावना अनुभवों द्वारा चलेती ही होती है। परन्तु उसे चारित्र्योन्नीयता बना बना रहता है। इस कारण वह कल्पना में स्थिर नहीं रह सकता।

ऐसा मानेंगे और समझेंगे मानेंगे लोगों में भी उसे प्रयुक्त होना पड़ता है। वह भी मैं आत्मा हूँ, ऐसी भिन्न हूँ, मुझे अपने आत्म-स्वरूप में ही स्थिर होना है, ऐसा लक्ष्य, विचार एवं रुचि रखती है। अन्य कार्य करते हुए लक्ष्य आत्मा ही और रहते। आत्मा के सिवाय दूसरे कार्य अनुभवता ही करे। समितिपूर्वक वतें। कदाचित् अन्य कार्य में तन्मयता हो जाय और आत्मा का लक्ष्य विसर जाय तो भी 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा जो अनुभव हुआ है उसकी श्रद्धा प्रतीति नहीं जाती। नींद में या ऐसे किसी समय में कदाचित् बुद्धिपूर्वक आत्मा का लक्ष्य या विचार न रहे किन्तु श्रद्धा नहीं बदलती। अतः पुनः स्मृति आने पर आत्मा का लक्ष्य हो जाता है और अवकाश हो तो अनुभव कर सकता है। इस प्रकार समकितों को अपने स्वरूप का अनुभव, लक्ष्य एवं प्रतीति रहती है और उसकी वृत्तिका प्रवाह अर्थात् आत्मा की परिणति अथवा रुचि आत्मा में स्थिर होने के झुकाव वाली हो जाती है। ( १११ )

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास ।

उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥११२॥

अर्थ—वह सम्यक्त्व बढ़ती जाने वाली अपनी धारा से हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मा में मिथ्याभास भासा है उसे टाल देता है और स्वरूप-समाधिका उदय होता है जिससे समस्त राग-द्वेष के क्षयरूप वीतरागपद में स्थिति हो जाती है। ( ११२ )

भावार्थ—ज्यों-ज्यों आत्मा का अनुभव होता है त्यों-त्यों कर्मकी

1. The first part of the paper is a review of the literature on the effects of the 1997 Asian financial crisis on the economies of the Asian countries. The second part of the paper is a review of the literature on the effects of the 1997 Asian financial crisis on the economies of the Asian countries. The third part of the paper is a review of the literature on the effects of the 1997 Asian financial crisis on the economies of the Asian countries.

१८८ : नित्यनियमादि पाठ

भावार्थ—उस वीतरागदशाका फल केवलज्ञान है। उसमें आत्मस्वभावका सम्पूर्ण और अखंड अनुभव रहता है। उपयोग आत्मामें स्थिर हो गया है। चार अघातिया कर्म ( नाम, गोत्र, वेदनीय, आयुष्य ) शेष रह जानेके कारण देहधारी दशा है फिर भी आत्माका ज्ञान, दर्शन, समकित और वीर्य तो सिद्ध भगवान् जैसा ही है। इस कारण वे देहधारी भगवान् हैं। (११३)

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत यतां शमाय ।

तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान यतां दूरं थाय ॥११४॥

अर्थ—करोड़ों वर्षोंका स्वप्न हो तो भी जागृत होनेपर तुरन्त मिट जाता है, उसी प्रकार अनादिकालका विभाव आत्मज्ञानसे दूर हो जाता है। (११४)

भावार्थ—अनादिकालसे जीव विभावमें अर्थात् परको जानकर अपनेको तद्रूप माननेमें वर्त रहा है। जब ऊपर कहे अनुसार स्वभावमें स्थिरता करते-करते केवलज्ञान प्रकट करता है तब विभावका सदाके लिए अन्त आ जाता है। जैसे बहुत लम्बा स्वप्न आया हो तो भी उसमेंसे जागनेमें लम्बा समय नहीं लगता। जरा-सी देरमें जागा जा सकता है। घातियाकर्म आत्माको शक्तियोंको रोके हुए थे, मूर्छित किये हुए थे। इस कारण वह अज्ञान-निद्रामें रहा हुआ विभावरूप स्वप्न देख रहा था। उन चारों कर्मोंका नाश होनेपर केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हुआ। उससे सदाके लिए जागृत हो गया। अज्ञान अनादिकालका था पर ज्ञान प्रकट होते ही जाता रहा। (११४)

छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म ।

नहि भोक्ता तुं तेहनो, अ ज धर्मनो मर्म ॥११५॥

अर्थ—शिष्य ! देहमें जो आत्मभाव हो रहा है और उसके



१९० : नित्यनियमादि पाठ

भी मेरे नहीं हैं, मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ.....” इस प्रकारका भेदज्ञान करना चाहिए। मेरा स्वरूप कैसा है? शुद्धात्म-स्वरूप है। उसे मैंने जाना नहीं पर सद्गुरुने जाना है वैसे ही मेरा स्वरूप है। ऐसी भावना करनेसे मिथ्यात्वकर्मका बल घटता है। तब अपने स्वरूपका दर्शन होता है। ‘ऐसी आत्मभावना करते हुए राग-द्वेषका क्षय होता है।’ (पत्र ६२९) राग-द्वेषका क्षय हो अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो। इसीसे कहा है—‘आत्मभावना भावतां, जीव लहे केवलज्ञान रे!’ अर्थात् आत्मभावना भाता हुआ जीव केवल-ज्ञान प्राप्त करता है।

इस गायामें धर्मका रहस्य बताया है कि धर्म क्या है? धर्मके समस्त साधन देहाध्यास दूर करनेके लिए हैं। जितना देहाध्यास घटा उतना धर्मका परिणमन हुआ। सर्वप्रथम तो जो उल्टी मान्यताएँ हो रही हैं उन्हें बदल कर सद्गुरुने जैसा आत्माका स्वरूप जाना है वैसे ही मेरा स्वरूप है, ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए। विषयोंके साथकी जितनी एकता घटेगी, उतने ही विषय फीके लगेंगे। इससे कर्मका कर्त्ता-भोक्तापन टलता है और अनुक्रमसे कर्मबंधसे रहित दशा प्राप्त की जा सकती है। (११५)

अे ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूपं ।

अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

अर्थ—इसी धर्मसे मोक्ष है और तू ही मोक्षस्वरूप है। अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। तू अनन्त ज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध-स्वरूप है। (११६)

भावार्थ—जीवको अनादिकालसे देहाध्यास हो रहा है उसे दूर करना चाहिए, आत्माको देहसे भिन्न अपने स्वरूपमें पहचानना चाहिए, यही प्रतिपादन करनेके लिए आत्मसिद्धिकी रचना की गई



१२४ : निरुपनिषद् पाठ

नार उन मायामें समाहित कर दिया है। उपदेश करी समान गुरु-  
गुरुको परमें—नानयोगमें पहुँच करनी पति, इस कारण अब मोन  
होकर ने आनन्द प्राप्त होनेमें पार। इस प्रकार आत्मभावमें लीन  
हो गए। ( ११८ )

### शिष्यनीधनीप्राप्ति

सद्गुरुना उपदेशणी, आपुनं अपूर्ण भान ।

निजपद निज मांही छह्य, दूर थपुं अजान ॥ ११९ ॥

अर्थ—सद्गुरुके उपदेशसे शिष्यको अपूर्ण अर्थात् जैसा पहले  
कभी नहीं प्राप्त हुआ था ऐसा भान आया और उसे अपना स्वरूप  
अपनेमें यथातथ्य भासित हुआ। उसका देहमें आत्मबुद्धिरूप  
अज्ञान दूर हुआ। ( ११९ )

भावार्थ—सद्गुरुने अपूर्व उपकार करके आत्माथं उपदेश  
दिया। उसे समझनेसे शिष्यको आत्माका भान हुआ। बोधव्योजकी  
प्राप्ति हुई। इसकारण शिष्य गुरुका उपकार मानता है। इसके  
अतिरिक्त गुरुका प्रभाव देखते हुए शिष्यको गुरुके प्रति अपूर्व भक्ति  
उत्पन्न हुई है। ज्ञान होनेके पश्चात् ज्ञानदाता गुरुके प्रति अपूर्व  
भक्ति प्रकट होती है। अन्तरात्मा हुए बाद जीव परमात्माकी भक्ति-  
आराधना करनेमें तत्पर होता है।

प्रथम तो सद्गुरुने छह पदोंका जो उपदेश किया उसका स्वरूप  
समझमें आ गया, इस उल्लासके साथ वह उसे गुरुके समक्ष कह  
सुनाता है कि जिससे उसमें कोई भूल हो तो गुरु सुधार दें।

‘आत्मा है’ इस पदके विषयमें शिष्य कहता है कि सद्गुरुके  
उपदेशसे मुझे अपूर्व भान हुआ है। समकित-आत्माका अनुभव  
है। पहले तो यही मानता था कि आत्मा नहीं है, देह ही





मगध-परिवर्तिन्याम जे, शुद्ध चेतनस्य ।

कर्मा ओर भावने से, ईश्वरकृपा-प्राप्तताम ।

अर्थ—मगध या पाण्डिपथ, जो शुद्ध चेतनस्य है, यहाँ  
निर्विकल्पकता के कर्मा और भावना (१२१)

आचार्य—जो न तो कल्पना करता ओर न चेतना ही  
आत्मामें परिणमन करता है, अतएव स्वभावतः कला कला भाँ  
है और भावना कल्पना ओर ओर चलता है । यदि आपकी  
आत्मा स्वभावतः ओर ओर कला कला है और कर्मा परिणमन  
ओर ओर चलता है । आत्मज्ञान-लक्षण ही आत्मामें निरूपण  
आचार्य स्वयं ही कहता है—अतएव शुद्ध । आचार्य स्वयं ही  
'मृदु कला है' 'मिने कला' 'मिने भावना', अतएव स्वयं ही  
नहीं ही । सद्गुरु आत्मपरिणमन होता है । आत्मक शुद्ध ही  
जन्म के पश्चात् जन्म के परिणाम भी शुद्ध चेतना पड़ता है, वह शुद्ध  
चेतनाका कर्मा और भावना कला जाता है । अपने शुद्ध चेतनासे  
भोगता है । वहाँ 'मिने कला है' 'मिने भावना है' ऐसा निश्चय नहीं ।  
सद्गुरु ही परिणमन होता रहता है । मोक्षमें भी कालद्रव्य के आधार-  
से आत्मा आत्मामें समय-समयपर परिणत होता है । वह परिणमन  
विकल्परूपसे होता है । जैसे दूसरे द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें परि-  
णमन करते हैं, उसी प्रकार शुद्ध चेतना शुद्ध चेतनारूपमें परिणत  
होता है । उस समय निर्विकल्पदशा होती है । (१२२)

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ ।

समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निग्रंथ ॥१२३॥

अर्थ—आत्माका जो शुद्ध पद है वह मोक्ष है और जिससे उसकी  
प्राप्ति होती है वह उसका मार्ग है । श्रोतद्गुरुने कृपा करके निग्रन्थ-  
का सर्व मार्ग समझाया । ( १२३ )



## १९८ : नित्यनियमादि पाठ

किए हैं। साथ ही सद्गुरु द्वारा किया गया उपकार भी आश्चर्य-कारी है।

जगत्के लोग किसी न किसी स्वार्थसे लेन-देन करते हैं। किन्तु सत्पुरुष तो सम्पूर्ण स्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें आत्मसुखको प्राप्ति हो चुकी है अतः संसारका कोई स्वार्थ उन्हें नहीं है। केवल इसी हेतुसे उन्होंने उपदेश दिया है कि कोई जीव आत्मस्वरूपको प्राप्त कर ले! उन्होंने समग्र जगत्के शिष्य होनेकी भावना की है, अतएव वे मानरहित हैं। मान-पूजाके लिए बोलते नहीं हैं। करुणा-के सागर हैं। ज्ञानी पुरुषका जीवन दो उद्देश्योंसे है—१. प्रारब्धको भोगना, २. और जगत्कल्याण। इसलिए वे साक्षात् करुणाकी मूर्ति हैं। उनका थोड़ा परिचय हुआ हो तो उनका यह करुणारूप लक्ष्यमें आवे कि सर्व जीवोंके प्रति कैसी करुणा होती है। सद्गुरुके अद्भुत स्वरूप, उनकी करुणा, उदारताका विचार करके अपनी ओर नजर करनेपर लगता है कि मैं कैसा पामर हूँ! सद्गुरु करुणासे उपदेश देते हैं परन्तु मैं तो अत्यन्त पामर हूँ। योग्यतारहित सामान्य मनुष्य हूँ, फिर भी उपदेश देकर मुझे आत्मज्ञान प्राप्त कराया और उच्च दशापर पहुँचाया। वास्तवमें आपने मुझपर ऐसा उपकार किया है जिसका माप नहीं हो सकता। उस उपकारके महत्त्वको मापने या समझनेकी भी मुझमें शक्ति नहीं है। सद्गुरुका एक वचन भी यदि यथार्थ रूपमें ग्रहण किया जाय तो टेढ़ मोक्षमें ले जाता है। अतएव सद्गुरुकी करुणा एवं उपकार अनन्त है। सत्पुरुषके द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकारका विचार करनेमें भी बहुत लाभ है। 'उनकी निष्कारण करुणाकी नित्यप्रति स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रकट होता है।' इस प्रकार सद्गुरुका स्वरूप भी अद्भुत है और उनका उपकार भी अद्भुत है।

संसारमें कोई किसीको धंधेमें लगा देतो वह जिन्दगी भर उसके उपकारको स्मरण करता है कि अमुकने मुझे आजीविकाका साधन



२०० : नित्यनियमादि पाठ

किन्तु शिष्यधर्मका विचार करके शिष्यने यह वचन कहा है।) जगत्में जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माकी तुलनामें मूल्यहीनसे हैं। वह आत्मा ही जिन्हें समर्पित कर दिया है उनके चरणोंमें अन्व कौन-सा पदार्थ रखूँ ? एकमात्र प्रभुके चरणके अधीन होकर वत्स, इतना मात्र उपचारसे करनेमें मैं समर्थ हूँ।

**भावार्थ—**संसारमें कोई अपने ऊपर उपकार करे तो उसका प्रत्युपकार करके बदला चुकाया जाता है। कोई अपनेको मान दे या हाथ जोड़े तो अपने भी उसे मान देते हैं और हाथ जोड़ते हैं। इस प्रकार प्रत्युपकार किया जाता है। अतएव शिष्य विचार करता है कि सद्गुरु प्रभुने मुझपर महान् उपकार किया है। बदलेमें मैं उन्हें क्या दूँ ? अथवा सद्गुरुने ज्ञानदान देकर कृतार्थ किया तो उनके समक्ष मैं क्या भेंट चढ़ाऊँ ? किन्तु आत्माको जान लेनेके बाद जगत्की सभी वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं। सभी वस्तुओंपर वैराग्य आया।

एकमात्र आत्मभावसे ही दर्शन करना और आत्मशुद्धि करना ही सद्गुरुको प्रसन्न करनेका उपाय है। इस कारण शिष्य सोचता है कि जगत्में आत्मा समस्त पदार्थोंसे उत्कृष्ट है—उससे बढ़कर कुछ नहीं है। वह आत्मा तो प्रभुने ही मुझे प्राप्त कराया, मैं आत्मा हूँ ऐसा भान कराया अतः आत्मा प्रदान किया। उसके समान बदलेमें देने योग्य कोई पदार्थ विश्वमें नहीं है। तो क्या दूँ ? कुछ दिया नहीं जा सकता और वे किसी बाह्य वस्तुकी इच्छा भी नहीं करते। तब क्या किया जाय ? एक उपाय है। उन्हें प्रसन्न करनेके लिए उनकी आज्ञामें चला जाय। चरणाधीन—इस शब्दका कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि जैसा आचरण उन्होंने किया वैसा आचरण करना—आत्मचारित्र्यमें प्रवृत्त होना। दूसरा अर्थ किया जाता है—सद्गुरुकी आज्ञामें रहना। यह अर्थ यहाँ संगत बैठता है। जीवोंका



२०२ : नित्यनियमादि पाठ

आपके तो अनेक होंगे, मैं उन सबसे नीचा—अत्यन्त दीन हूँ। दासके दासका दास हूँ। इस प्रकार नम्रता आ जाय तो कल्याण हो।

शिष्यका मन नम्र हो गया है, इससे ऐसे शब्द निकले हैं। नरम वस्तु हो तो मेल बैठता है, कठिन वस्तु बननेपर दरार पड़ जाती है। मैं ज्ञानी हूँ, मुझे ज्ञान हो गया है, ऐसा विचार जहाँ आता है वहाँ अभिमान आ जाता है। पर मैं कुछ जानता नहीं, ज्ञानी जानते हैं, मुझे उनका कहा करना है, मैं उनका दास हूँ, ऐसा विचार करे तभी आत्मगुण प्रकट होते हैं। अहंकार आत्माको कुचल देता है। सद्गुरुके उपदेशसे इतनी समझ आई, अपूर्व ज्ञान आया तो अब सद्गुरुकी भक्तिसे ही नम्रता गुण प्रकट होना चाहिए। मन, वचन, कायको सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवर्तना चाहिए अर्थात् ऐसे भाव करना जो उन्हें रुचें। उनकी आज्ञाका विचार करके ही वचनोंका प्रयोग करना और उनकी आज्ञाके अनुसार ही कायको प्रवृत्त करना।

नौकरको सेठके कहे अनुसार करना पड़ता है। दासका कर्तव्य तो नौकरसे भी अधिक है। नौकर तो तभी तक आज्ञामें रहता है जब तक उसे वेतन मिलता रहे किन्तु दासको जिदगी भर आज्ञामें रहना होता है। सद्गुरु छोटे-बड़ेका भेद नहीं करते। जो उनके आधीन हुआ उसे वे अवश्य तारते हैं। एंजिनके साथ मालका डिव्वा जोड़ा जाय या सैलून, वह दोनोंको समानरूपसे खींचकर ले जाता है। इसी प्रकार सत्पुरुषकी दृष्टि जीवमात्रपर समान होती है। जो उनके आधीन रहता है उसे वे अवश्य तारते हैं। अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसे सद्गुरुने यथातथ्य रूपसे जाना है। अतः उसे प्राप्त करनेके लिए सद्गुरुके आधीन वर्तना चाहिए।

‘चित्त प्रसन्नेरे पूजन फल कहयुं रे, पूजा अखंडित अहे।  
कपटरहित थई आत्म अरपणा रे, आनंदघन पद रेह ॥’





‘ज्यों ज्यों जे जे योग्य है, सही समय में देह ।  
 त्यों त्यों ते ते आवरे, आशायीं जब ओह ॥’

जिसने आत्मा को जाना है ऐसा मर्ग्य ही आभार कया  
 साजता है । मर्ग्य मिल तो नहीं-नहीं जो-जो योग्य है वह उसी  
 प्रकार समझने और आचरण करना । अतएव मर्ग्यकी आवश्यकता है । आजानुसार चलनेमें आत्मार्थ होता है । उक्तानुसार  
 चलनेसे भूल होनेका भय है । हो मोह और माने कि मैं निरन्तर  
 आत्मामें ही रहता हूँ; परन्तु दो घड़ी आत्मामें रहे तो केवलज्ञान  
 प्रकट हो जाए । ऐसा होना कितना निकट है, इसका पता नहीं ।  
 कर्मका उदय निरन्तर है सो समझमें आता नहीं ।

साथ ही निश्चयको भी नहीं छोड़ देना है । निश्चयको लक्ष्यमें  
 रखकर साधन करता है । उपयोगरहित अकेली क्रिया कर्मबन्धका  
 कारण है । ( १३१ )

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल ।

एकान्ते व्यवहार नहि, वन्ने साथ रहेल ॥ १३२ ॥

अर्थ—यहाँ एकान्त निश्चयनय नहीं कहा अथवा एकान्त



धर्मके सामान्य जो वर्तमान या भवतमान की बात है। कि मच्छ-फलको कहना है। वह मायाके विपर्ययको कहती है। अतः वह मध्यवर्ती कहती है। मृत्पत्ती आदिको माया, पत्तियों-पत्रोंका समूह आदि कल्पनाएं कहती है। क्या दूसरे का यहाँ तक बताया है कि किसी मच्छ-फलकी मूल्यक व्यवस्था की जाती चाहे अन्धकार जीवनका माया-वेग-वेग छूट हो जाता है। उन्मत्त हो जाएगा। अनादिकालीन जीवनको मच्छ-फलका अन्धकार है, ऐसा विचार कर उसे त्याग देना चाहिए।

व्यवहार धर्ममें त्याग वेगमय जितना समझ लो, उतना और सिद्धान्तकी बात किसी ज्ञानीमें जानना। जिसे आदमाकी पहचान हो वही निश्चयकी बात कर सकता है। अपने मनमें सिद्धान्त बात



२१४ : नित्यनियमादि पाठ

दृष्टिमें समकित्ती समान गिना है। इस रीतिसे सभी ज्ञानियोंका एक ही मार्ग है। (१३४)

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।

सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥१३५॥

अर्थ—समग्र जीवोंमें सिद्ध समान सत्ता है, पर वह तो जो समझे उसके लिए प्रकट हो। उसे प्रकट करनेके लिए सद्गुरुकी आज्ञामें प्रवृत्त होना तथा सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट जिन दशाका विचार करना, ये दो निमित्त कारण हैं। (१३५)

भावार्थ—निश्चयनयसे विचार करनेपर प्रत्येक जीव सिद्ध समान है। उसमें यह शक्ति विद्यमान है। पर वह प्रकट कैसे हो? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि सद्गुरुकी आज्ञा और जो उस दशाको प्राप्त हो चुके हैं ऐसे जिनेश्वर देवोंके स्वरूपका विचार करनेपर अपने शुद्ध स्वरूपका भान प्रकट होता है। जिनेश्वरका दर्शन करते समय विचारना चाहिए कि वे किस प्रकार पूर्ण वीतराग हुए? चौथे गुणस्थानसे बारहवें तक क्रम-क्रमसे बढ़कर वीतरागता पूर्ण होती है। इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूपका विचार करते हुए स्वयं भी उस दशाके लिए प्रयत्न कर सकता है। जिनकी दशाका विचार करते हुए मुझे क्या करना है, इसका लक्ष्य स्थिर होता है।

पाँच समितिके पत्रमें कृपालुदेवने समझाया है कि सब आवश्यक क्रियाएँ ज्ञानीकी आज्ञासे करनी चाहिए। इस प्रकार आज्ञामें वर्तना सद्गुरुकी आज्ञा है और जिनेश्वरका स्मरण करके उनकी तरह स्थिर हो, जिनदशाका विचार करके आत्मामें रहे, यह तीन गुप्ति हैं। 'चैतन्य जिनप्रतिमा था' ऐसा कहा है। इस प्रकार सद्गुरु-आज्ञा और जिनदशाके अवलम्बनसे अथवा पाँच समिति और तीन गुप्ति द्वारा आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त किया जाता है।



नया शान्तिः समता अया, राग त्याग वैराग्य ।

होय मुमुक्षु नर निवे, जेन् सत्ता सुखाय ॥ १३८ ॥

अर्थ—राग, शान्ति, समता, अया, राग, त्याग और वैराग्य ये गुण मुमुक्षु के चरम में यत्न सुखाय अर्थात् जायत रहते हैं, अर्थात् इन गुणों के अभ्यास में मुमुक्षु नही होता । ( १३८ )

भावार्थ—अन्तर में माह् स्वयं मुमुक्षु जानता नहीं करते वाला मुमुक्षु नहीं है तो सच्चा मुमुक्षु कैसा होता है ? यह अ कहते हैं । जिसे आत्मा की शान्ति हुई हो और जिसमें मोक्ष जाने की भावना जागी हो उसमें नीचे कहे गुण अवश्य विकसित होते हैं—

१. दया—मैं आत्मा हूँ, ऐसा जानने के पश्चात् आत्मा को कैसे वचाया जाय, इसका विचार होता है । अनन्तकाल से जन्म-मरण के कारण आत्मा को दुःख है, अब उसपर दया लाता है कि जन्म मरण कैसे टले ? साथ ही वह समझता है कि अन्य जीवों का भी जन्म-मरण टले, इसी में उनका हित है । अपने को जो छूटने साधन सत्संग वगैरह हितकर प्रतीत हुए हैं वे दूसरों को भी ऐसे ऐसी वह भावना भाता है । शम, संवेग, निर्वेद और आस्था, इन चारों में अनुकम्पा रही हुई है । क्रोध आदिको जो उपशमाता सो आत्मा की अनुकम्पा के लिए ही है, मोक्ष की भावना में आत्मा की अनुकम्पा है, संसार के दुःख से त्रास लगने और उससे निवृत्त होने भी आत्मा की अनुकम्पा कारण है । आस्था अर्थात् सत्पुरुष वचन में तल्लीनता भी आत्मा का अनुकम्पा पूर्वक ही होती है अतः जहाँ आत्मा की दया का विचार होता है वहाँ शम, संवेग निर्वेद और आस्था आती है ।

अन्य जीवों की रक्षा करना भी अपना ही दया से होता है अन्य जीवों को दुःख देगा तो उतना स्वयं को भोगना पड़ेगा ऐ-





उसे ढोल नहीं दिया जाता । क्रोधसे कोई कुछ कहता हो तो भी वह आत्मा है, ऐसा समझे तो क्षमा कर दे ।

५. सत्य—सच्चीसे सच्ची वस्तु आत्मा है । मैं आत्मा हूँ, इस लक्ष्यके विना बोलना न बोलना झूठ है । मिथ्यादृष्टिका सब कुछ असत्य है । वह व्यवहारसे सत्य भले कहा जाय परन्तु परमार्थसत्य तो वही है जो आत्माके उपयोगके साथ बोला जाय । व्यवहारसत्य का पालन करना भी आत्माके सुखका कारण है । असत्य बोलनेमें बहुत विकल्प करने पड़ते हैं और आत्मा अशान्त होता है । देहदृष्टि का त्याग करे आत्मदृष्टि बने तभी परमार्थसत्य समझमें आता है । और तभी बोला जाता है ।

६-७. त्याग-वैराग्य—आत्माको पहचाननेके लिए अन्य छोटी वस्तुओंसे विरक्ति आनी चाहिए । उनका त्याग होना चाहिए । 'जितनी अन्य पदार्थोंसे तादात्म्य अध्यासकी निवृत्ति है उसे श्रोत्रिन त्याग कहते हैं ।' इस प्रकारका त्याग जब तक न आवे तब तक निरन्तर उदासीनताके क्रमका सेवन करना चाहिए । जहाँ तक आत्म-दृष्टि नहीं वहाँ तक निरन्तर बंध होता रहता है, इससे उदासीनता आवे कि मैं निरन्तर बन्धका भागी होता रहता हूँ, यह बंध कब रुकेगा ? सद्गुरुकी आज्ञा मिलनेके बाद सबसे मन हट जाता है । त्याग न हो वहाँ वैराग्य रहना चाहिए । उसमें सत्यपर दृष्टि रखना आवश्यक है । सत्यके लिए त्याग-वैराग्य करने योग्य है ।

ऊपर कहे सात भाव जीवको जागृत रखनेवाले हैं । प्रथम आत्माकी दया विचारे । अनन्तकालसे संसार-सागरमें डुबकियाँ खा रहा है, दुखी है, ऐसा लगना चाहिए । दुःख जानेका उपाय करे तो शान्ति मिले । जब भूमिका शान्त हो जाती है तब वह समता कहलाती है । स्वरूपका निर्णय हो गया वह समता है । समभाव



रागसे जीव बन्धनो प्राप्त होता है, वैराग्यम मुक्त होता है, अतः कर्मके फलमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। राग करने योग्य तो मिथ्यदशा है, अबवा सत्पुरुषपर राग करना कहा है। जगत् जत्र जूठन जैसा जान पड़ेगा तब संसारसे त्रास लगेगा। जूठनमें चाहे जैसा जीमनेको मिले तो भी उसके प्रति इच्छा नहीं होती।



स्थानक पांच विचारी ने, छठे बतें जेह ।

पामे स्थानक पांचमुं, ओमां नहिं संदेह ॥ १४१ ॥

अर्थ—पांच स्थानकोंका विचार करके जो छठे स्थानकमें वर्तता है अर्थात् मोक्षके उपायोंमें प्रवृत्त होता है, वह पांचवां स्थानक अर्थात् मोक्षपद पाता है ॥ १४१ ॥

भावार्थ—आत्मसिद्धि शास्त्र पढ़कर क्या करना चाहिए ? यह इस गाथामें कहते हैं । पहले पांच स्थानक विचारकर समझ



करके, आराधन करके, जीवकोटिके शरीरादि मिथ्या परभावको छोड़ कर, शुद्धस्वरूप एकत्वका अनुभव करके उत्तरोत्तर जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह होकर, सर्वथा स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर, अनन्त अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्दमें निरन्तर विलीन हो रहे हैं। जैसे कुंभारके चाकको पहले मिली हुई गति, कार्य पूरा हो जानेके कारण मात्र सर्वथा विराम पानेके लिए ही होती है। उसी प्रकार जिनके बाह्याकार देहका प्रवर्तन हो रहा है परन्तु अन्तर आकारमें तो आप सदा आपरूपमें ही रहता है। वह अनुपम देहातीत सच्चिदानन्दमय सहजात्मस्वरूप ( दशा ) देहगम्य नहीं इन्द्रियगम्य नहीं, मनोगम्य नहीं, बुद्धिगम्य नहीं, दृष्टान्तग्राह्य भी नहीं; केवल अतिविरल किसी महाभाग्य शुद्ध सम्यग्दृष्टिसे वचनातीत प्रत्यक्ष अनुभव अंशमें आती है।

ऐसे अद्भुत परमयोगीन्द्र परमज्ञानी परमपुरुषके सजीवन प्रत्यक्ष योग और उनके सजीवन सदुपदेश धन्य हैं ! धन्य हैं ! उसीको पुनः-पुनः वन्दन हो। अर्थात् दुर्लभ अतिदुर्लभ इस द्विधा योगमें मैं और मेरा सर्वस्व समर्पित हो !

अनन्त सुखस्वरूपके इच्छुक सच्चे मुमुक्षुके लिए यह दशा अन्तिम आदर्श है, अतएव इस सर्वोत्कृष्ट यथार्थ आत्मदशाको प्राप्त जीवन्मुक्त आत्मारामपरिणामी, एकमात्र वीतराग ज्ञानी पुरुष ही मोक्षके लिए वन्दन योग्य हैं, विश्वासनीय हैं, कीर्तन योग्य हैं, नमन योग्य हैं, अनुसरण करने योग्य हैं। इसलिए पुण्ड्र निमित्तको वन्दन करता है, अर्थात् प्रमाणभूत, आचारभूत, अवलम्बनके योग्य ऐसे सद्गुरुका आश्रय लेकर उनके निश्चयको मान्य करता है। मन, वचन, काय योगोंका एकीकरण करके उनका अनुसरण करता है। इन योगोंको उनके बोधमें, उनकी आज्ञामें प्रवृत्त करता है, उनके वियोगमें उनके आज्ञारूप बोधका

1  
2  
3  
4  
5

6  
7  
8  
9  
10

11  
12

13



सर्वोप कविः जिनवन्दनी पांने कृत

## जिनेन्द्र पंच कल्याणक

### मंगलगीत या पंच मंगल

प्रणमिणि' पंच परमगुरु गुरु' जिनशासनो,  
सकल सिद्धिदातार सु निवननिनासनो ।  
सारव अरु गुरु गीतम सुमति प्रकासनो,  
मंगलकर चउसंगहि पाप पणासनो ।  
पापहि पणासन गुणहि गहवा, दोव अप्रादश रहिउ',  
धरि ध्यान कर्म विनाशि केवलज्ञान अविलल जिन लहिउ ।  
प्रभु पंच कल्याणक-विराजित, सकल सुर नर ध्यावहीं,  
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावहीं ॥१॥

जिनशासनमें गुरु, सर्वोत्कृष्ट, प्रसिद्ध, परमपूज्य अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवन्त, ये पांच परमगुरु हैं जो समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाले और समस्त सिद्धियोंको देनेवाले हैं । उन्हें नमस्कार करता हूँ । भगवान्की वाणीरूप शारदा, सरस्वती और श्रीमान् गीतम गणधर जो सद्ज्ञानका प्रकाश करनेवाले, साधु साध्वी श्रावक श्राविकारूप चार प्रकारके संघका कल्याण करनेवाले तथा पापका नाश करने वाले हैं, उन्हें भी नमस्कार करता हूँ ।

जिन जिनेन्द्र भगवान्ने पापका नाश किया है, आत्माके अनन्त ज्ञान दर्शन आदि गुणोंकी प्रकटतासे जो गुरु अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हैं, अठारह ४दोषोंसे रहित हैं, ध्यानकी एकाग्रताके बलसे जिन्होंने ( ज्ञानको आच्छादित करनेवाले ) ज्ञानावरणीय, ( दर्शन गुणको

१. प्रणमामि—नमस्कार करता हूँ । २. महान्—बड़े । ३. रहित ।

४. देखिए इसी कल्याणककी २१ वीं गाथा ।



'सुरकुंजर' सम कुंजर पाल 'धुरंधरो,'  
 केसरि 'केसरसोभित नाग-शिखा मुंदरो ।  
 कमला कलस-न्हवन नुद' वाम सुहावनी,  
 रवि-ससिमंडल मधुर, मीनजुग' पावनी ।  
 पावनि कनकघट-जुगमपूरन, 'कमलकलित सरोवरो,  
 'कल्लोलमालाकुलित सागर, 'सिंहपोठ मनोहरो ।  
 रमणीक अमरविमान कणिपति-भवन'° भुवि छवि छाजए,  
 रवि रतनराशि दिपंत दहन सु तेजपुंज विराजए ॥ ३ ॥

जिन भगवान्की माताको ये सोलह स्वप्न आए—(१) ऐरावत हाथीके समान हाथी (२) श्वेत बैल (३) अयालसे शोभित, नखसे शिख (शीर्ष) तक सर्वांगसुन्दर सिंह (४) कलशोंसे स्नान करती हुई लक्ष्मी देवी (५) दो पुष्पमालाएँ (६) सुन्दर सूर्यमंडल (७) मनोहर चन्द्रमंडल (८) दो पवित्र मछलियाँ (९) पवित्र जलसे भरे दो स्वर्णकलश (१०) कमलोंसे शोभित सरोवर (११) तरंगोंके

- 
१. ऐरावत हाथी । २. सफेद । ३. बैल । ४. अयालसे शोभित सिंह । ५. दो मालाएँ । ६. दो मछलियाँ । ७. कमलसहित । ८. लहरोंसे उछलता । ९. सिंहासन । १०. पाठान्तर 'रवि' ।



आन्यौ सचो जिनरूप निरखत, नयन त्रिपत न हूजिए,  
तव परम हरपितहृदय हरिने, सहस लोचन पूजिए ।

पुनि करि प्रणाम जु प्रथम इन्द्र उछंग<sup>१</sup> धरि प्रभु लीनउ,

ईसान इन्द्र सु चन्द्रछवि सिर, छत्र प्रभुके दीनउ ॥ ७ ॥

प्रथम स्वर्ग ( सौधर्म देवलोक ) का इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर समस्त देवोंके परिवार सहित आया । और उसने जिन भगवान्की जय-जयकार करते हुए नगरीकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं । उसके बाद प्रथम स्वर्गकी इन्द्राणी चुपचाप प्रसूतिगृहमें जाकर जिन-माताको सुखकी निद्रामें सुलाकर और पासमें एक मायामय बालकको रखकर भगवान्को उठा लाई । उस समय इन्द्रइन्द्राणी द्वारा लाये हुए भगवान्का रूप निरखने लगा । भगवान्का रूप देखते-देखते इन्द्रके नयन तृप्त न हुए तब हृदयमें परम हर्षित होकर उसने अपने हजार नेत्र बनाये और भगवान्के रूपामृतका डट कर पान किया । तत्पश्चात् उनको प्रणाम करके भगवान्को अपने उत्संग ( गोद ) में ले लिया और दूसरे देवलोकके स्वामी ईसान इन्द्रने उन भगवान्के ऊपर चन्द्रमाकी कान्तिके समान श्वेत छत्र धारण किया ।

सनतकुमार माहेन्द्र चमर दुई ढारहीं,

सेस सक्र जयकार, सबद उच्चारहीं ।

उच्छवसहित चतुरविध, सुर हरखित भये,

जोजन सहस नित्यानवै, गगन उलँघि गये ।

लँघि गये 'सुरगिरि जहाँ पाण्डुकवन विचित्र विराजहीं,

पाण्डुकशिला तहँ अर्धचन्द्रसमान मणि-छवि छाजहीं ।

---

१. उत्संग-गोद । २. मेरु पर्वत, यह एक लाख योजन ऊँचा है, उसमेंसे एक हजार योजन जमीनके अन्दर है और नित्यानवे हजार योजन



यदन उवर-अयगाह कलसगत जानिए ।  
 एक चार वसु जोजन मान प्रमानिए ।  
 सहस-अठोतर कलसा, प्रभुके सिर ठरे,  
 पुनि सिंगार प्रमुख आचार सबै करे ।

करि प्रगट प्रभु महिमा महोच्छव, आन पुनि मातहि दए,  
 धनपतिहि सेवा राखि सुरपति, आप सुरलोकहि गए ।  
 जनमाभिषेक महंत महिमा सुनत सब सुख पावहीं,  
 जन 'रूपचंद' सुदेव जिनवर जगत मंगल गावहीं ॥१०॥

उन कलशोंके मुखकी गोलाई एक योजन, पेट अर्थात् मध्यमें चौड़ाई चार योजन और ऊँचाई ( गहराई ) आठ योजन की थी । इतने बड़े एक हजार और आठ कलश भगवान्‌के सिरके ऊपर ढोरे अर्थात् स्नान कराया । उसके बाद श्रृंगार आदि क्रिया की—वस्त्रा-भूषण पहनाये । इस प्रकार इन्द्रोंने भगवान्‌की महिमा करके और





प्यारे लगनेवाले, योग्य, नित्य नये-नये, देवों द्वारा प्रस्तुत, पवित्र और उपमारहित सर्व भोग भोगने लगे ।

भव-तन-भोगविरक्त, कदाचित् चित्तए,  
 धन जीवन प्रिय पुत्र, कलत्त अनित्त ए ।  
 कोउ न सरन मरन दिन, दुःख चहुँ गति भयों,  
 सुख दुख एकहि भोगत, जिय विधिवस पर्यो ।  
 पर्यो विधिवस आन चेतन, आन जड जु कलेवरो,  
 तन असुचि परतैं होय आस्रव, परिहरेतैं संवरो ।  
 निरजरा तपबल होय, समकित-विन सदा त्रिभुवन भम्प्यो,  
 दुर्लभ विवेक विना न कवहूँ, परम धरम विषै रम्प्यो ॥१२॥

तत्पश्चात् किसो समय भगवान् संसार, शरीर और भोगसे विरक्त ( वैराग्ययुक्त ) होकर ( बारह भावनाओंका ) विचार करने लगे कि—( १ ) अनित्यभावना—धन, जीवन, प्रिय पुत्र और पत्नी, ये सब अनित्य-नाशवान् हैं । ( २ ) अशरणभावना—संसारमें मरण आदि दुःखके प्रसंगोंपर जीवको कोई शरण देनेवाला नहीं है । ( ३ ) संसारभावना—संसारको नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव, इन चारों गतियोंमें दुःख ही दुःख भरा है । ( ४ ) एकत्वभावना—कर्मके आधीन हुआ यह जीव अपने किये कर्मोंका फल अकेला ही भोगता है । ( ५ ) अन्यत्वभावना—कर्मके आधीन, चैतन्यमय मेरा आत्मा जड़ शरीरसे भिन्न है । ( ६ ) अशुचिभावना—यह शरीर मल मूत्र रुधिर मवाद आदि अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है । ( ७ ) आस्रवभावना—पर अर्थात् पुद्गलादि पर पदार्थोंपर राग-द्वेष आदि करनेसे कर्मका आस्रव होता है । ( ८ ) संवरभावना—परपदार्थोंसे राग-द्वेषका त्याग करनेसे संवर



कन्यापुत्रका भयान् भयान् भयान् भयान् । जहाँ जहाँ जाय पापों  
 बना कर भयान् भयान् । जहाँ जहाँ जाय करत करत भयान् भयान् ।  
 नरों भयान् भयान् भयान् भयान् । नरों भयान् भयान् भयान् भयान् ।  
 अपने केनोंका जोन । जहाँ जहाँ । जोन । जोन । जोन । जोन ।  
 के कारण करने योग्य भुवन-का जहाँ जहाँ भयान् भयान् ।

मणिमय भाजन केश, परिद्विप सूरपती,  
 क्षीरसमुद्र-जल गिर करि, गयो अमरावती ।  
 तप-संयम-बल प्रभुको, मनपरजय भयो,  
 मोनसहित तप करत, काल कष्ट तहँ गयो ।

गयो कष्ट तहँ काल तपबल, रिद्धि वस्तु विधि सिद्धिया,  
 जस्तु धर्मध्यानबलेन रायगय, सम प्रकृति प्रसिद्धिया ।  
 खिपि सातयें गुण जतन दिन तहँ, तीन प्रकृति जु बुधि बढिउ,  
 करि करण तीन प्रथम सुकलबल, खिपकसेनी प्रभु चढिउ ॥१४॥

इन्द्रने रत्नमय पेटोमें भगवान् के केश रखकर उसे पांचवें क्षीर-  
 समुद्रमें पधरा दिये और आप अपनी स्वर्गपुरीमें चला गया । फिर  
 तप और संयमके प्रभावसे भगवान् को ( दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ  
 को जाननेवाला ) मनःपर्ययज्ञान प्रकट हुआ । फिर मोन सहित  
 तप करते हुए कुछ समय व्यतीत हुआ, तब तपके प्रभावसे आठ  
 प्रकारकी ऋद्धियां सिद्ध हुईं और धर्मध्यानके बलसे सात

१. आठ ऋद्धियां—(१) बुद्धिऋद्धि ( ज्ञानऋद्धि ), (२) चारण-  
 क्रियाऋद्धि ( जहाँ चाहे वहाँ गमन करनेकी शक्ति ), (३) विक्रियाऋद्धि  
 ( शरीरके नाना प्रकारके रूप बना लेनेकी शक्ति ), (४) तप ऋद्धि  
 ( जिससे कठिन तप किया जा सके ), (५) बल ऋद्धि ( जिसके द्वारा मन  
 वंचन कायका बल मनचाहा किया जा सके ), (६) औषधि ऋद्धि ( जिसके  
 पत्तीने अथवा शरीरकी हवाके स्पर्शसे लोगोंके रोग दूर हो जाएँ ऐसी



## ५. ज्ञानरूपीणिक

तेजसो मृण्मयः, समोमी तन्नेष्टो,  
अनन्त अक्षय्य मीमा भवो पश्येष्टो ।

(११) विषयमयानुपूर्वी (१२) माय (१३) शोभा (१४) म्भावर  
(१५) मृण्मय (१६) माधाय (१७) अक्षय्यमानो माय (१८) अ० माय  
(१९) अ० माया (२०) अ० शोभा (२१) प्रत्याप्याप्त क्रोध (२२) प्र०  
माय (२३) प्र० माया (२४) प्र० शोभा (२५) नर्तुमानोद (२६) दृष्टोद  
(२७) हास्य (२८) र्मा (२९) अर्मा (३०) शोभा (३१) भय (३२)  
जुगुप्सा (३३) पृथपथेद (३४) मंजालन क्रोध (३५) मं० माय (३६)  
सं० माया ।

२. सोऽहं प्रकृतियां—(१) निद्रा (२) प्रचला (३) मतिज्ञानावरण  
(४) ध्रुतज्ञानावरण (५) अवयिज्ञानावरण (६) मनःपर्ययज्ञानावरण  
(७) केवलज्ञानावरण (८) चक्षुदर्शनावरण (९) अचक्षुदर्शनावरण (१०)  
अवधिदर्शनावरण (११) केवलदर्शनावरण (१२) दानान्तराय (१३)  
लाभान्तराय (१४) भोगान्तराय (१५) उपभोगान्तराय (१६)  
वीर्यान्तराय ।



उस गंधकुटी पर ( १ ) गिरागमन था । उस गिरागमनके ऊपर गुल्फर कमल बना था और उस कमलके ऊपर भगवान्का शरीर अवर शोभायमान हो रहा था ( २ ) भगवान्के मस्तक पर तीन छत्र शोभायमान हो रहे थे और ऐसे भगवान्को देगकर तीन लोक के जीव माहित हो रहे थे । ( ३ ) भगवान्के मस्तक पर यक्ष जाति के देव चीसठ चमर डोर रहे थे । ( ४ ) भगवान्के पोछे अशोकवृक्ष था जिसके नीचे भगवान्की गंधकुटी थी । ( ५ ) भगवान्की दिव्यध्वनि खिर रही थी । ( ६ ) देवदुंदुभिका नाद उसकी प्रतिध्वनिके साथ हो रहा था । ( ७ ) देवता पुष्पवृष्टि कर रहे थे । ( ८ ) करोड़ों सूर्यकी प्रभा ( कान्ति, तेज ) के समान कान्तिमान् भामंडल भगवान्के मुखके आसपास शोभित हो रहा था । इस प्रकारके अनुपम आठ प्रातिहार्योंकी श्रेष्ठ सम्पत्तिके साथ भगवान् विराजमान थे ।

दुइसैं जोजन मान, सुभिच्छ चहूँ दिसी,  
गगनगमन अरु प्राणी-बध नहिं अहनिसी ।  
निरुपसर्ग निरहार सदा जगदीस ए,  
आनन चार चहूँ दिसी सोभित दीसए ।

दीसए असेस विसैस विद्या, विभव वर ईसुरपनो,  
छायाविर्वजित शुद्ध फटिक समान तन प्रभुको बनो ।  
नहिं नयन पलक पतन कदाचित केस नख सम छाजहीं,  
ये घातिया-छय जनित अतिसय, दस विचित्र विराजहीं ॥१८॥





तव इन्द्र आन तिमो महोन्नत, सभा शोभित अति वनी,  
धर्मोपदेश दियो तहां, उत्तरिय तानी जिन तनी ॥२०॥

( १ ) भगवान् का उपदेश सम्पूर्ण अर्थात् ऐसी अलंभागधी भाषामें होता था कि जिसे सभी समझ लेते थे । ( २ ) सब जीवोंमें परस्पर मैत्रीभाव था, जातिविरोधी जीन भी परस्पर मित्रताका वर्ताव करते थे । ( ३ ) वनस्पतियां सर्व ऋतुओंके फल-फूलोंसे खिल उठनेके कारण मनको हरण करनेवाली थीं, अर्थात् सब ऋतुओंके सब प्रकारके फल-फूल एक ही साथ उत्पन्न हो जाते । ( ४ ) पृथ्वी दर्पणके समान निर्मल-स्वच्छ हो जाती । ( ५ ) सुगंधी पवन सब जावोंको आनन्द देनेवाला मन्दगतिसे बह रहा था । ( ६ ) जो स्त्री-पुरुष भगवान्की सेवा करते उनको परम आनन्द प्राप्त होता था । ( ७ ) पवनकुमार देव एक योजन जितनी भूमिको झाड़-बुहारकर साफ रखते थे । ( ८ ) मेघकुमार देव सुगंधित जलकी वर्षा करते थे । ( ९ ) भगवान् जब अथर चलते थे तब देवगण भगवान्के चरणोंके नीचे स्वर्ण-कमल रचते जाते थे । ( १० ) पृथ्वी की शोभा चन्द्रमा जैसी हो जाती थी । ( ११ ) आकाश तथा दिशाएँ निर्मल हो जाती थीं । ( १२ ) चारों प्रकारके देव जयजयकार करते थे । ( १३ ) धर्मचक्र आगे-आगे चलता था । ( १४ ) छत्र, चँवर, ध्वजा, घंट आदि आठ मंगलद्रव्य साथ रहते थे ।

इस प्रकार देवकृत सुन्दर चौदह अतिशय थे । कवि कहते हैं कि जिन भगवान्के केवलज्ञानकी महिमा और कितनी कही जाय ! जहाँ इन्द्रने आकर महोत्सव किया, अतिशय शोभायमान सभा बनाई और भगवान्ने धर्मोपदेश दिया—भगवान्की वाणी खिरने लगी ।

क्षुधा तृषा अरु राग द्वेष असुहावने,  
जनम जरा अरु मरण, त्रिदोष भयावने ।







वे सिद्ध भगवान् निश्चयनयसे अनन्त गुणस्वरूप और व्यवहार-  
नयसे सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व,  
अनन्तवीर्य और अव्यावाधत्त्व, इन आठ गुणोंमें सम्पन्न हैं। राग  
द्वेष आदि पर निमित्तसे जो अर्थपर्याय होती है वह विभाव अर्थ-  
पर्याय कहलाती है। उस विभावपर्यायसे रहित निज शुद्ध परिणति-  
में परिणत हो रहे हैं। वे सिद्ध भगवान् चैतन्यस्वरूप, परम  
आनन्दके धाम अशरीर परमात्मा हुए। इस प्रकार वस्तुस्वभाव  
अर्थात् शुद्ध आत्मस्वभाव-अनन्तज्ञान दर्शन आदि शुद्ध चैतन्य  
स्वभावको प्रकट करके, राग द्वेष आदि सर्व विभावोंसे रहित,  
सर्व विकारोंसे रहित होकर शुद्ध परिणतिको प्राप्त कर चिद्रूप-  
चैतन्यमय परमानन्दमय सिद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुए।

तनु-परमाणू दामिनिपर, सब खिर गये,  
रहे सेस नख केसरूप जे परिणये।  
तब हरि प्रमुख चतुरविध सुरगण सुभ सच्यो,  
मायामधि नख केसरहित जिनतनु रच्यो।

रुचि अगर-चंदनप्रमुख परिमल, द्रव्य जिन जयकारियो,  
पदपतित अगनिकुमार मुकुटानल सुविधि संस्कारियो।  
निर्वाणकल्याणक सुमहिमा सुनत सब सुख पावहीं,  
जन 'रूपचंद' सुदेव जिनवर जगत मंगल गावहीं ॥२४॥

भगवान् जब मोक्ष पधारे तब उनके पौद्गलिक शरीरके सब



हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर वनितासों दृग जोरी ।

आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो ॥८॥

इस प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, परस्त्रीसे नजर जोड़ना (अब्रह्मचर्य) और आरंभ-परिग्रहमें अत्यन्त आसक्ति, ये पाँच पाप किये ।

सपरस रसना घ्रातनको, चख कान विषय सेवनको ।

बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने ॥ ९ ॥

स्पर्शन, रसना (जिह्वा), घ्राण (नासिका), चक्षु और कान इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको मधुर मानकर मैंने सेवन किया । मनमाने अर्थात् मनको जो प्रिय लगे ऐसे बहुत-से काम किये, जिनके करनेमें न्याय और अन्याय या अच्छाई और बुराईका विचार नहीं किया, कुछ भी पर्वाह नहीं की ।

फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।

नहिं अष्ट मूलगुण धारी, विसन जु सेये दुखकारी ॥१०॥

( १ ) बड़ ( २ ) पोपल ( ३ ) कठूम्बर ( ४ ) ऊमर ( गूलर ) और अंजीरके फल उदुंबरफल कहलाते हैं । ये बहुत जीवोंसे भरपूर होनेके कारण अभक्ष्य हैं । फिर भी भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक न होनेके कारण या जिह्वालोढुपताके कारण मैंने इन पाँच उदुंबरोंका भक्षण किया । उनके अनिरिक्त मधु, मांस और मदिराकी इच्छा की; किन्तु इन आठोंके स्वाभाविक आठ मूल गुणोंको मैंने धारण नहीं किया । तथा जुआ, मांस, मदिरा, चोगे, वैश्यागंग, शिकार और परस्त्रीसम्बन्ध, इन मान दुष्टादायी अधोगातके कारण व्यसनों का मैंने सेवन किया ।

दुष्ट योग्य अभक्षण जिन पाये, सो भी निशचिन भुंजाये ।

कष्ट भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों कर उदर भरायो ॥११॥





२६० : नित्यनियमादि पाठ

परिहास अरति रति रोग, भय ग्लानि तिबेद संजोग ।

पनचीस जु भेद भये इस, इनके वश पाप किये हम ॥ १३ ॥

ऊपर कहे हुए १६ कपाय तथा हारण, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ये नौ नोकपाय मिलकर कपायके पचीस भेद हैं । इनके वशीभूत होकर मैंने बहुत पाप किये ।

निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई ।

फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विषफल खायो ॥

निद्राके वश होकर सोते समय स्वप्नमें मैंने अनेक दोष किये । फिर जाग कर भी विषयरूपी वनमें भटकता रहा । अनेक प्रकारके कष्टकारी विषके समान विषयोंका कटुक फल मैंने भोगा ।

किये आहार निहार विहारा, इनमें नहिं जतन विचारा ।

विन देखी धरी उठाई, विन शोधी भोजन खाई ॥ १५ ॥

आहार ( भोजन ) करते, विहार करते और निहार ( मल-मूत्र आदिका त्याग ) करते समय जीवोंकी रक्षा करनेके लिए यतना ( सावधानी ) नहीं रखी । विचारहीन होकर इन क्रियाओंमें प्रवृत्त हुआ । देख-भाल किये बिना वस्तुओंको उठाया और रक्खा । शोधन किये बिना अर्थात् शुद्ध-साफ किये बिना भोजन खाया ।

तब ही परमाद सतायो, बहुविध विकल्प उपजायो ।

कलु सुधि बुधि नहिं रही है, मिथ्यामति छाय गई है ॥ १६ ॥

तब मैं प्रमादसे पीड़ित हुआ और बहुत प्रकारके विकल्प-जालको मैंने उपजाया, जिससे कुछ भी सुध-बुध ( शुद्ध बुद्धि या भान ) नहीं रहा । मात्र मिथ्या-अज्ञानमय बुद्धिके आवरण मेरे ऊपर छा गए ।



२६२ : नित्यनियमादि पाठ

साधारण वनस्पति ( आलू आदि ) जिनमें अनन्त जीवोंके समूह होते हैं, उसे मैंने हर्षपूर्वक प्रसन्न होकर खाया ।

हा ! मैं परमाद बसाई, विन देखे अगनि जलाई ।

ता मध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिचाये ॥२१॥

हाय ! प्रमादके वश होकर मैंने देखभाल किये बिना अग्नि जलाई, उसमें जो जीव बीचमें आ गए वे मर गए ।

बीध्यो अन्न राति पिसायो, ईधन विन सोधि जलायो ।

झाड़ू ले जागां बुहारी, चिटिआदिक जीव विदारी ॥२२॥

धुना हुआ अनाज रात्रिके अन्धकारमें पिसाया । बिना देखे लकड़ी आदि ईधन जलाया । बुहारी लेकर जगह झाड़ी, उससे कीड़ी वगैरह कितने ही जीवोंका घात हुआ ।

जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी ।

नहिं जलथानक पहुँचाई, किरिया विन पाप उपाई ॥२३॥

पानी छाननेपर जो जिवानी रही उसे चाहे जहाँ डाल दी किन्तु पानीकी जगह नहीं पहुँचाई । इस प्रकार क्रिया-यतनाके अभावमें पापका उपार्जन किया ।

जल मल मोरिन गिरवायो, कृमिकुल बहु घात करायो ।

नदियन बिच चीर धुवाये, कोसनके जीव मराये ॥२४॥

नालीमें जल, मल-मूत्र आदि गिरवाया, उससे वहाँ कृमिकुल-जीवोंके समूहकी घात करवाई । नदी आदिमें कपड़े धोये, धुलवाये जिससे कई कोसों तकके जीवोंकी हिंसा हुई ।

अन्नादिक शोध कराई, तामें जु जीव निसराई ।

तिनका नहिं जतन कराया, गरियारे धूप डराया ॥२५॥

अनाज आदिको बीनकर साफ किया-करवाया, उसमें लट धुन



1. The first part of the paper is devoted to a discussion of the  
2. various methods of determining the rate of reaction.

3. The second part of the paper is devoted to a discussion of the  
4. various methods of determining the rate of reaction.



# सामायिक पाठ

( अर्थसहित )

प्रतिक्रमण कर्म<sup>१</sup>

काल अनंत भ्रम्यो जगमें सहिये दुख भारी,  
जन्म मरण नित किये पाप को ह्वै अधिकारी ।  
कोडि भवांतर मांहि मिलन दुर्लभ <sup>२</sup>सामायिक,  
धन्य आज मैं भयो जोग मिलियो सुखदायक ॥ १ ॥

अनन्तकालसे यह जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है । महा भयंकर दुःखों को भोग रहा है । जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि आदि अनन्त दुःख, अनन्त कालसे, अनन्त-अनन्त वार भोगे हैं । उन सब दुःखोंको भोगनेका कारण अज्ञान आदि दोष हैं और यह जीव उनका भाजन बना हुआ है । ( अर्थात् अनन्त दोष-पापसे ही परिभ्रमणके दुःख चालू हैं । ) उन दोषोंको दूर करने वाली और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाली सामायिक कोटि-कोटि भवोंमें भी दुर्लभ है । उस सामायिकको करनेका सुखदायक योग-अवसर आज मुझे मिला है, अतएव मैं आज अत्यन्त धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ । मेरा यह समय लेखे लगा—सफल हुआ है ।

हे सर्वज्ञ जिनेश ! किये जे पाप जु मैं अब,  
ते सब मनवच काय योगकी गुप्ति बिना लभ ।  
आप समीप हजूरमांहि मैं खड़ो खड़ो सब,  
दोष कहूँ सो सुनो करो नठ दुःख देहि जव ॥ २ ॥

हे सर्वज्ञ जिनेश ! मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी गुप्ति [ संयम ] के अभावमें मैने जो जो पाप किये वे सब पाप आप

१. पहले लगे हुए दोषोंमें निवृत्त होना—गोछे हटना । २. सम-संग रहित होकर सनभावमें रहना सामायिक है ।









श्री सुपार्श्व कृतपाश नाश भव जास शुद्ध कर,  
श्री चन्द्रप्रभ चन्द्रकान्ति-सम देहकान्ति घर।  
पुष्पदन्त दमि दोषकोष भवि पोष रोष हर,  
शीतल शीतल करन हरन भवताप दोष हर ॥१७॥

हे सुपार्श्वनाथ ! आपने कर्मके पाश ( बंधन ) का नाश किया है। आपका जीवन हमको शुद्ध-निर्दोष बनाकर संसारसे तारने वाला है। हे चन्द्रप्रभ प्रभो ! आप चन्द्रमाकी कान्तिके समान मनोहर देहकी कान्तिके धारक हैं। हे पुष्पदन्त ( सुविधिनाथ ) प्रभो ! आप दोषोंके समूहको टालनेवाले, भव्यजीवोंको मोक्षमार्गमें पोष-पुष्टि-सहायता करनेवाले और रोष अर्थात् क्रोध द्वेष आदिको हरण करनेवाले हो। संसारके तापको शान्त करनेवाले परम शान्तिस्वरूप, शीतलता करनेवाले शीतलनाथ भगवन् ! हमारे सब दोषोंको दूर करो।

श्रेयरूप जिन श्रेय ध्येय नित सेय भव्य जन,  
वासुपूज्य शत पूज्य वासवादिक भवभय हन।  
विमल विमल मति देन अंतगत है अनंत जिन,  
धर्म शर्म शिव करन शान्ति जिन शान्ति विधायिन ॥१८॥

हे श्रेयांस जिन ! आप श्रेय-कल्याणरूप हैं, आप भव्यजनोंके लिए नित्य सेवा करने योग्य ध्येय हैं। हे वासुपूज्य प्रभो ! आप सौ इन्द्रों द्वारा पूज्य हैं और संसार सम्बन्धी भयको हरनेवाले हैं। हे विमलनाथ भगवन् ! आप विमल ( शुद्ध ) बुद्धिके दाता हैं। हे अनन्त जिन ! आप संसार ( जनम-मरण ) के अन्त ( मुक्ति ) को प्राप्त हैं। हे धर्मनाथ ! आप धर्म ( गुण ) एवं शिव ( कल्याण ) करनेवाले हैं। हे शान्तिनाथ भगवन् ! आप शान्तिकर्ता हैं।

कुंथु कुंथुमुन जीवपाद अरनाथ जालहर,  
मल्लि मल्लमम मोहमल्ल मारन प्रचारधर।



त्रिशलातनुज महेश धीश विद्यापति वंदूं,  
वंदूं नितप्रति कनक रूप तनु पाप निकंदूं ॥२१॥

वीर, महावीर, सन्मति, वर्धमान और अतिवीर ( इन पांच नामोंसे सुविख्यात ) हे जिनेन्द्र ! आपको मन, वचन, कायसे वन्दन करता हूँ । हे त्रिशला माताके सुपुत्र ! आप अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य-से सम्पन्न होनेके कारण महेश हैं । केवलज्ञानी होनेसे धीश हैं, विद्यापति हैं । आपको मैं नित्य प्रति वन्दन करता हूँ । कंचनवर्ण कायाके धारक हे प्रभो ! आपको वन्दन करके मैं अपने पापोंको नष्ट करता हूँ ।

सिद्धारथ नृपनंद द्वंद दुख दोष मिटावन,  
दुरित-दवानल-ज्वलित ज्वाल जगजीव उधारन ।  
कुंडलपुर करि जन्म जगत जिय आनंद कारन,  
वर्ष बहत्तर आयु पाय सब ही दुख टारन ॥ २२ ॥

हे महाराज सिद्धार्थके नन्दन ! जन्म-मरण, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदिसे जनित दुःख और ( वैभाविक भावरूप ) समस्त दोषोंको मिटानेवाले और पापके दावानलकी प्रज्वलित ज्वालाओंमें जलते हुए जगत्के जीवोंका उद्धार करने वाले ! आप कुंडलपुरमें जन्मे और जगत्के जीवोंके परम आनन्दके कारण बने । आप बहत्तर वर्षकी आयु पाकर सब दुःखोंका नाश करनेवाले बने हैं ।

सप्त हस्त तनु तुंग भंग कृत जन्म-मरन-भय,  
वाल ब्रह्ममय ज्ञेय हेय आदेय ज्ञानमय ।  
दे उपदेश उधारि तारि भवसिन्धु जीवधन,  
आप वसे शिव मांहि ताहि वंदौ मन-वचन-तन ॥ २३ ॥

सात हाथ ऊँचे शरीरवाले, जन्म-मरणके भयको भंग करने-वाले, वालब्रह्मचारी, ज्ञेय ( जानने योग्य ), हेय ( त्यागने योग्य ), उपादेय ( ग्रहण करने योग्य ) का ज्ञान हो ऐसा उपदेश देकर बहुत

•

•

•

•

•

## २८० : नित्यनियमादि पाठ

में प्रयत्नवान् हो उसे सब अन्य कार्य छोड़कर, पूर्ण रूपसे शुद्ध भावनाको लक्ष्यमें रखकर भावपूर्वक सामायिक करना चाहिए। पंडित महाचन्द्र ( इस सामायिकपाठके कर्त्ता ) कहते हैं कि इस सामायिकसे राग, द्वेष, मद, मोह, क्रोध, लोभ आदि समस्त दोष विलीन हो जाते हैं। अतएव सब आत्मार्थियों को यह आवश्यक अवश्य आदरपूर्वक करना चाहिए।





आत्मानुभवी, वराहसिं लागी मङ्गरमा मङ्गमागेंसोंक तन हरे  
मोभारि जनोंके सँ नृपामुदका हरण करी है ।

रहे सदा सत्संग उन्हींका, ग्यान उन्हींका निरा रहे,  
उन हो जैसी चरमिं गद निरा गदा अनुरक्त रहे ।  
नहीं सताऊँ किसी जीवकी, शूद्र कभी नहीं कदा करूँ,  
परधन-वनिता पर न कुशाऊँ, संतोषामृत पिपा करूँ ॥ ३ ॥

ऐसे जानी मङ्गरमा पुष्पोंका गुन निरा सत्संग रहे, निरस्तर  
उन्हींका ग्यान रहा करे और उनकी जैसी चरमिं, उनकी आत्माकी  
चेष्टामें निरावृत्ति मदा प्रेम, प्रीति, अनुरागपूर्वक तल्लीन रहे ।

मे किसी जीवकी तनिक भी दास न पहुँचाऊँ, किसीका हनन  
न करूँ, कभी अमत्यभाषण न करूँ, परधन एवं परस्त्रीकी कभी  
इच्छा न करूँ और सन्तोष स्त्री अमृतका पान किया करूँ जिससे  
परवस्तुको ग्रहण करनेका लोभ मुझे न हो, सदा स्तद्रूपसे ही  
सन्तोषसुखका आस्वादन करता रहूँ ।

अहंकारका भाव न रखूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ,  
देख दूसरोंकी बढ़तीकी, कभी न ईर्ष्याभाव धरूँ ।  
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ,  
वने जहाँ तक इस जीवनमें, औरोंका उपकार करूँ ॥ ४ ॥

देह गेह आदि परवस्तुओंमें 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार अहंकार  
करता फिरता हूँ, तथा कुल, रूप, विद्या, बल, धन, आदिका गर्व  
करके 'मैं दूसरोंसे बड़ा हूँ' इस प्रकारके अभिमानसे मत्त होकर  
फिरता हूँ । यह अनन्तज्ञान, दर्शन-सुख आदि अनुपम आत्मिक  
ऐश्वर्यसे सम्पन्न मेरा शुद्ध आत्मा, जिसे परमज्ञानी सद्गुरु भगवान् ने  
जाना है, देखा है, अनुभव किया है, कहा है, वैसा हो ही ऐसी श्रद्धा  
करूँ, उसी आत्मस्वरूपमें ममता करूँ और उस अज्ञानजनित



गुणीजनोंको देन हूँ अपने, मेरे येन समस्त आने,  
 बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन गुण पावे ।  
 होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, दोह न मेरे घर आये,  
 गुणग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर आवे ॥ ६ ॥

जिन जो में आदिम सद्गुण पाकर हुए जान पाई उन सद्गुणी आत्मार्यों सद्गर्मपरायण सत्पुरुषार्थयुक्त पुरुषों को देना हर मेरे हृदयमें प्रमोदभाव हो बुद्धि हो और उनके प्रति येन पूर्ण उत्साह का भाव उमरे । ऐसे सद्गुणी पुरुषों को नितनी मृदुले बने सतनी सेवा करूँ और जब ऐसी सेवा करनेका अवसर मिले तब अपनेको माया-भाग्यशाली समझकर मनमें मुग्ध होऊँ, आनन्द का अनुभव करूँ ।

किसीके द्वारा किये गये उपकारको न भेटना इस कृतज्ञता गुणको विभूषण जानूँ और उपकारको भेटना एक कृतघ्नताको महान् दोष समझकर कदापि उसका आचरण न करूँ । किसीके प्रति द्रोह अर्थात् दगा, ईर्ष्या, बैर, द्वेष, मेरे अन्तरमें न रहें । चाहे जैसे दोषयुक्त पापी जीवको देनाकर उसमें जो कोई भी गुण हो वही मुझे ग्रहण करना है, उसके दोषसे मुझे कोई वास्ता नहीं है, ऐसा विचार कर गुणको ग्रहण करनेकी और दोषको न देरानेकी ही मेरी दृष्टि रहे ।

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,  
 लाखों वर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे ।  
 अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे,  
 तो भी न्यायमार्गसे मेरा, कभी न पद डिगने पावे ॥ ७ ॥

कोई प्रशंसा करे, स्तुति करे अथवा निन्दा करे, अपयश करे, भाग्यवश धन प्राप्त हो या धन चला जाय, आयु कर्मके उदयसे लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ या आज-अभी मृत्यु आ जाय, अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देवे, ( प्रतिकूल या अनुकूल उपसर्ग



मरण आदि अनिष्टकी प्राप्तिमें अपूर्व सहनशीलता और धैर्यको धारण करें ।

सुखी रहें सब जीव जगतके, कोई कभी न घवरावे,  
वैर पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे ।  
घर घर चर्चा रहे धर्मकी, दुष्कृत दुष्कर हो जावे,  
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुजजन्मफल सब पावे ॥ ९ ॥

जगतके सब जीव सुखी रहें । सबके दुःख दूर हो जाएँ । सभी प्राणी भयभीत न होते हुए, प्रतिकूल प्रसंगोंमें साहसहीन होकर घवरावें नहीं वरन् धीरज और सहनशीलता गुणको प्राप्त करें । सब जीव परस्पर वैरभाव, दोष या पापभाव और अभिमान छोड़कर सदा आत्मकल्याणके सन्मुख रहें । प्रत्येक घरमें सद्धर्मकी चर्चा हो, सद्धर्मकी वृद्धि हो और हिंसा आदि न करने योग्य पापकर्म दुष्कर हो जाएँ अर्थात् कोई पापकर्म न करे । सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्यरूप आत्मधर्मकी उन्नति—वृद्धि करके सभी अपने दुर्लभ मनुष्यभवको मोक्षप्राप्तिके प्रयासमें लगाकर सफल—कृतकृत्य करें । सम्यग्दर्शनरूप आत्म-अनुभवसे मोक्षमार्ग प्राप्त कर सभी मनुष्यजन्म की सफलता प्राप्त करें ।

ईति-भीति व्यापे नहिं जगमें, वृष्टि समयपर हुआ करे,  
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजाका किया करे ।  
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्तिसे जिया करे,  
परम अहिंसाधर्म जगतमें, फैल सर्वहित किया करे ॥ १० ॥

जगत्में धान्य आदिको हानि पहुँचानेवाले सात उपद्रवों—अति-वृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदलका उपद्रव, चूहोंका उपद्रव, पक्षियोंका उपद्रव, स्वचक्रका उपद्रव, और परचक्रका उपद्रव जो ईति कहलाते हैं—का भय न व्यापे अर्थात् ईति आदि उपद्रव न हो । समय-समय



भाव फैले परन्तु वह प्रेम मोहरूप न हो। मोह तो अज्ञानजन्य भाव है, राग-द्वेषकी वृद्धि करनेवाला है, स्वार्थपूर्ण और संकुचित वृत्तिका पोषण करनेवाला है, परमार्थका आवरण करनेवाला है। अतएव यह मोह ( संसारी जीवोंका परम शत्रु होनेसे ) सबसे दूर हो रहे।

कोई मनुष्य अप्रिय, कटुक, कर्कश, निर्दय शब्द मुखसे किसीसे न कहे। 'युगवीर' अर्थात् पं० जुगलकिशोर ( इस 'मेरी भावना' के कर्ता ) कहते हैं—सर्व जीव हृदयके उत्साहसे युगवीर—इस कालमें चोर बनकर देशोन्नतिमें तत्पर रहें और वस्तुस्वरूपके विचारसे, जीव अजीव आदि तत्त्वोंकी विचारणासे, आत्मज्ञानजनित सदानंद प्राप्त करके सब दुःखोंको, संकटोंको, धीरजके साथ सहन करके इस संसारके दुःख-सागरको तिर जाएँ। इति शम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः











## सायंकालीन वंदन

महादेव्याः कुक्षिरत्नं शब्दजितरवात्मजम् ।  
राजचन्द्रमहं वन्दे, तत्त्वलोचनदायकम् ॥ १ ॥

जय गुरुदेव ! सहजात्मस्वरूप परमगुरु शुद्धचैतन्य स्वामी ।

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।  
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥ २ ॥

मंगलमय मंगलकरन, वीतराग विज्ञान ।  
नमो ताहि जातै भये, अर्हन्तादि महान ॥ ३ ॥

विश्वभावव्यापी तदपि, एक विमल चिद्रूप ।  
ज्ञानानन्द महेश्वरा, जयवन्ता जिन भूप ॥ ४ ॥

महत्तत्त्व महनीय महः, महाधाम गुणधाम ।  
चिदानन्द परमात्मा, वन्दौ रमता राम ॥ ५ ॥

तीन भुवन चूडारतन,—सम श्री जिनके पाय ।  
नमत पाइये आप पद, सब विधि बंध नशाय ॥ ६ ॥

दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम् ।  
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥ ७ ॥

दर्शनाद् दुरितध्वंसी, वन्दनाद् वाञ्छितप्रदः ।  
पूजनात् पूरकः श्रीणां, जिनः साक्षात् सुरद्रुमः ॥ ८ ॥

प्रभुदर्शनं सुख सम्पदा, प्रभुदर्शनं नव निधि ।  
प्रभुदर्शनसे पामिये, सकल मनोरथ सिद्धि ॥ ९ ॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम्,  
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।  
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा साक्षिभूतम्,  
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ १० ॥



२९४ : नित्यनियमादि पाठ

षट् स्थानक समाजवीने, भिन्न वताव्यो आप ।  
म्यानथकी तरवारवत्, ओ उपकार अमाप ॥२३॥  
जे स्वरूप समज्या विना, पाभ्यो दुःख अनन्त ।  
समजाव्युं ते पद नमूं. श्रीसद्गुरु भगवन्त ॥२४॥

नमस्कार

जय जय गुरुदेव ! सहजात्मस्वरूप परमगुरु शुद्ध चैतन्य स्वामी  
अंतरजामी भगवान !

इच्छामि खमासमणो वंदितं जावणिज्जाए निसीहिआए  
मत्थएण वंदामि ।

परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखदाम ।  
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥२५॥

नमस्कार

जय जय गुरुदेव !.....मत्थएण वंदामि ।  
देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत ।

ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित ॥२६॥

नमस्कार

जय जय गुरुदेव !.....मत्थएण वंदामि,  
नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु शरणं शरणं,  
शरणं, त्रिकाल शरणं, भव भव शरणं, सद्गुरु शरणं,  
सदा सर्वदा त्रिविध त्रिविध भाववन्दन हो, विनयवन्दन हो,  
समयात्मक वन्दन हो, ॐ नमोऽस्तु जय गुरुदेव शान्तिः  
परम तारु, परम सज्जन, परम हेतु, परम दयाल,  
परम मयाल, परम कृपाल, वाणीसुरसाल, अति सुकुमाल.



## सायंकाल देवतन्दना

[ राजजीभाई देसाई कृत भावार्थका हिन्दी रूपान्तर ]

सहादेव्याः कुक्षिरत्नं. शब्दजितरवात्मजम् ।

राजनन्दनमहं वन्दे. तत्त्वलोचनदायकम् ॥ १ ॥

देवमानास्वरूप महादेवीकी कुक्षिसे उत्पन्न अमूल्य रत्नके समान तथा वननका जन्म करने वाले, 'साधान् सरस्वती' के नामसे प्रसिद्ध, अपना जितनी वननरूप भारतीविभूति—सरस्वती सारा वनन ही रखती है, ऐसे अगाध श्रुतज्ञानके पारगामी, महापञ्चानन श्रीराजजीभाईके पुत्र श्रीमद् राजनन्दनको भी परम उज्ज्वल भक्तिभावसे नमस्कार करता हूँ, जो अनारिक्त अज्ञानअन्धकारों दूर करने के लिए मुझे अत्यमूल्य अवलोकनसे परमात्मनस्वरूपके दर्शन कराने के हेतु, अपूर्व तत्त्वलोचन, दिव्यदृष्टि, ज्ञानचक्षुके दाता है ।





महत्तत्त्व महनीय महः, महाधाम गुणधाम ।

चिदानन्द परमात्मा, वंद्यो रमता राम ॥ ५ ॥

परमात्मतत्त्व सर्वं तत्त्वोंमें सर्वोपरि महान् तत्त्व है । यही महनीय अर्थात् पूजने योग्य महः अर्थात् तेज-ज्योति-दिव्य प्रकाश है, यही महाधाम अर्थात् भव्यात्माओंके लिए परम अवलंबन या महान् आधार है, यही गुणोंका धाम है, यही चिदानन्द अर्थात् अनन्त ज्ञानादि अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्दस्वरूप है । इस स्वरूपमें रमता राम सहजात्मस्वरूप परमात्माको परम भक्तिभावसे नमस्कार हो ॥ ५ ॥

तीन भुवन चूडारतन, सम श्रीजिनके पाय ।

नमत पाइये आप पद, सब विधि बंध नशाय ॥ ६ ॥

मोहादि विभावोंकी अन्तरंग सेनाके विजेता जिनवीतराग सर्वज्ञ प्रभुके चरणारविन्द तीन लोकके मुकुटमणि समान सर्वोत्तम श्रेय-कारी और शोभास्पद हैं । उन पुनीत चरणोंमें नमस्कार करनेपर यह आत्मा भी अपने शुद्ध आत्मपदको प्राप्त करता है और सब प्रकारके कर्मबन्धनोंको नष्ट करके परम मुक्त बन जाता है ।



आत्मिक आनन्द से पूर्ण, परम आत्मसुख के दाता, केवल-  
 आनन्दी मूर्ति, सुख-दुःख, लाभ-वन्धन, मान-अपमान, हर्ष-शोक,  
 जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों से रहित, आकाश के समान असीम, 'तत्त्व-  
 मयि' (सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित जो परमात्मसत्त्व, वही तू है) आदि  
 ज्ञानों के रहस्यवाच्यों द्वारा लक्ष्य करने योग्य अथवा सर्वमें प्रथम  
 देने वाले योग्य तत्त्व जो है सो तू ही है ऐसे, परके संमर्गों से रहित एक  
 तीनों कालों में रहने से नित्य, कर्ममल से रहित विमल, स्वरूप-  
 स्थिरता से कदापि चलायमान न होने वाले अचल, सदैव निर्लेप  
 ज्ञाता, दृष्टा होने से साक्षीभूत, शुभाशुभ भावों में अतीत, सत्त्व, रज  
 और तम इन तीन प्रकृतिके गुणों से रहित अथवा मिथ्यादर्शन,  
 मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य इन तीन दोषों से रहित, शुद्ध  
 सहजात्मस्वरूप सद्गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं, ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् ।

योगीन्द्रमोडयं भवरोगवैद्यं, श्रीमद् गुरुं नित्यमहं नमामि ॥ ११ ॥

जो आनन्दस्वरूप हैं, आनन्द करने वाले हैं, जो पूर्णकाम, परम  
 संतुष्ट होने से परम प्रसन्न पद में विराजमान हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, स्वात्मा



३०२ : नित्यनियमादि पाठ

सद्गुरुकी मूर्ति ध्यानका मूल कारण है, उनके चरण पूजाके कारण हैं, उनके वाक्य या वचन सर्व मंत्रोंके मूल हैं और उनकी कृपा मोक्षका मूल कारण है ॥ १४ ॥

अखंडमंडलाकारं, व्याप्तं येन चराचरम् ।

तत्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१५॥

चर और अचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीवोंसे भरपूर यह लोक केवलज्ञानो भगवान्‌के ज्ञानमें व्याप्त है, अथवा केवली-समुद्घातके समय केवली भगवान्‌ प्रदेशोंसे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होते हैं, ऐसा भगवान्‌का स्वरूप जिनने दर्शाया उन श्रीसद्गुरुको नमस्कार हो ॥ १५ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१६॥

अपने स्वरूपकी जिन्हें पहचान नहीं है ऐसे अज्ञानरूप गाढ़ अंधकारमें अंधे बने हुए जिज्ञासुओंके नेत्र जिन्होंने ज्ञानरूप अंजन-शलाकासे उधाड़े—तत्त्वको देखनेकी दृष्टि प्रदान की, अपने सहजा-त्मस्वरूपका प्रकट दर्शन कराकर अंधेको सूझता बनाया, उन श्रीसद्गुरुको नमस्कार हो ॥ १६ ॥

ध्यानधूपं मनःपुष्पं, पञ्चेन्द्रियहुताशनम् ।

क्षमाजाप संतोषपूजा, पूज्यो देवो निरञ्जनः ॥१७॥

परमात्मामें एकाग्रतामय ध्यानरूपी धूपके द्वारा, मनरूपी पुष्प द्वारा, पाँच इन्द्रियोंको वश करने रूप अग्निसे, क्षमा रूप जाप और संतोषरूप पूजा द्वारा निरंजन देव अर्थात् कर्मरूप अंजन—मलीनता—अशुद्धिसे रहित शुद्ध सहजात्मरूप भगवान्‌की पूजा करना चाहिए ॥ १७ ॥



मैं प्रभुके चरणोंमें क्या अर्पित करूँ ? ( सद्गुरु तो परम निष्काम हैं । केवल निष्काम कर्मणामे प्रेरित होकर उपदेशके दाता हैं । किन्तु जिनने जिनका चर्मसे ऐसा वचन कहा है । ) जगतमें जिसने भी परार्थ है, सब आत्माकी अपेक्षा तुच्छ निर्मूल्य हैं । वह आत्मा जिनको अर्पित कर दिया है उनके चरणोंके समीप अन्य क्या रखूँ ? शिर्ष प्रभुके चरणोंके अधीन रहूँ मात्र इतना ही उपचारसे कर्त्तव्यभावसे करनेमें मैं समर्थ हूँ ॥ २१ ॥

आ देहादि आजयो, वतों प्रभु आधीन ।

दास, दास हूँ दास हूँ, आप प्रभुनो दीन ॥२१॥

यह देह आदि, जो भी मेरा गिना जाता है, वह सब आजसे सद्गुरु प्रभुके आधीन रहे । मैं आप प्रभुका दास हूँ, दास हूँ, दास हूँ ॥ २२ ॥

पट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप ।

म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥२३॥

छहों स्थानक समझाकर हे सद्गुरुदेव ! आपने जैसे म्यानसे निकालकर तलवार अलग बताई जाती है, उसी प्रकार देहादिसे आत्माको भिन्न बतलाया । आपने ऐसा उपकार किया है जिसका माप नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।

समजाव्युं ते पद नमूं, श्रीसद्गुरु भगवन्त ॥२४॥

जिस आत्मस्वरूपको न समझनेसे भूतकालमें मैंने अनन्त दुःख प्राप्त किया वह पद जिन्होंने समझाया अर्थात् भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति का मूल जिन्होंने छेद दिया, उन श्रीसद्गुरु भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥





३०६ : नित्यनियमादि पाठ

भव-भव शरणं, सद्गुरु शरणं, सदा सर्वदा त्रिविध त्रिविध भाव-  
वन्दन हो, भिनयवन्दन हो, समयात्मक वन्दन हो, ॐ नमोस्तु  
जय गुरुदेव शान्तिः ।

परम तारु, परम सज्जन, परम हेतु, परम दयाल, परम  
मयाल, परम कृपाल, वाणी सुरसाल, अति सुकुमाल, जीवदया-  
प्रतिपाल, कर्मशत्रुना काल, 'मा हृणो मा हृणी' शब्दना करनार,  
आपके चरण-कमलमें मेरा मस्तक, आपके चरणकमल मेरे  
हृदयकमलमें अण्डोपणे संस्थापित रहें, सत्पुरुषोंका सत्स्वरूप मेरे  
निरास्मृतिके पट पर टंकोत्कीर्णवत् सरोदित जयवन्त रहे-  
जयवन्त रहे ।

भगवन् ! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो !  
आपका अनन्य शरण मुझे अगुप्त प्राप्त हो, प्राप्त हो, प्राप्त हो !  
यह शरण विनाश स्थिर रहे । भव-भवमें मुझे यह शरण प्राप्त हो ।  
हे सद्गुरु ! आपका एकनिष्ठ शरण मुझे सर्वत्र संप्राप्त रहे ! मन  
वचन कागामे, करना, कराना, अनुमोदना, उभ प्रकार मदा सर्वदा  
त्रिविध त्रिविध भावपूर्णक वन्दन हो, भिनयकृत वन्दन हो, समय-  
समय-प्रतिक्षण आत्माको आत्माका वन्दन हो, पंच परमेशीको  
नमस्कार हो । गुरुदेवकी जय हो । शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

समा-सागरने सागरेवादे, परम भारक, साधुगणोंमें प्रियेमणि,  
परम सज्जन, मोक्षके परम कारण, भावस्थानके सागर, भर्ममेद  
दुक्त-सागर-वर्जित, परम कृपा करने वाले, अचल-हृत्कारि साधु  
जगत्-वन्दन हो करने करते हैं, जिन गुरुनाद, सर्व जीवोंकी  
मूर्ति पावनदाय, जिन गुण-अनन्त करने वाले, गुरुदेव और साधु-  
नर्तकियों को शरण-पाना जगत्-हित करने, अथ जीवोंका  
भो-दान करने करने, विष्णु-नव-जीवोंकी रक्षा करने, उभ प्रतिपादन  
जगत्-वन्दन करने करने वाले, साधुगणोंमें प्रियेमणि, परम भारक, साधुगणोंमें प्रियेमणि,

